दंसणमूलो धम्मो

आत्मधर्म

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ (सौराष्ट्र) का मुखपत्र

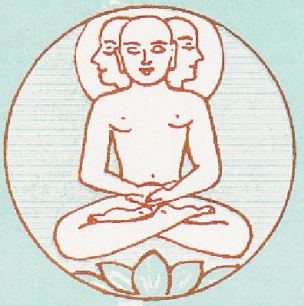

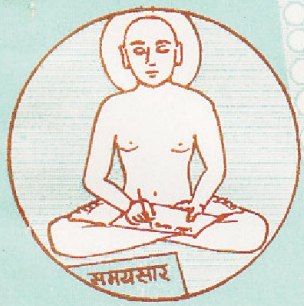

तं तव जहिं अप्पापर बुज्झइ ।
तं तव जहिं भवमाथुजि उज्झइ ॥
तं तव जहिं ससरूप मुणिज्जइ ।
तं तव जहिं कम्मग्गथ खिज्जइ ॥

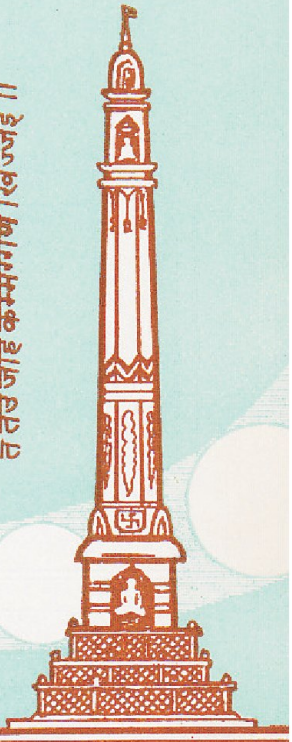

सम्पादक : डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल
कार्यालय : टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

आत्मधर्म [३९२]

[शाश्वत सुख का मार्गदर्शक आध्यात्मिक हिन्दी मासिक]

संपादक :
डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

प्रबंध संपादक :
अखिल बंसल

कार्यालय :
श्री टोडरमल स्मारक भवन
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (भावनगर-गुजरात)

शुल्क :
आजीवन : १०१ रुपये
वार्षिक : ६ रुपये
एक प्रति : ५० पैसे

मुद्रक :
सोहनलाल जैन
जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर

क्या

१ धनि मुनि जिनकी लगी
२ मानव भव सफल कर
३ संपादकीय : उत्तम तप
४ एक आत्मा को जानना ही भूतार्थ है [समयसार प्रवचन]
५ उसे परमात्मा कहते हैं [नियमसार प्रवचन]
६ द्रव्यसंग्रह प्रवचन
७ ज्ञान-गोष्ठी
८ समाचार दर्शन
९ पाठकों के पत्र
१० प्रबंध संपादक की कलम से

तप वहाँ है—जहाँ स्वपर-भेदविज्ञान होता है, जहाँ जीव भवदु:खों से मुक्ति प्राप्त करता है, जहाँ आत्मस्वरूप का परिज्ञान होता है, और जहाँ कर्मों के समूह का नाश होता है। तात्पर्य यह है कि स्वपर-भेदविज्ञान से युक्त आत्मज्ञानी जीव तप के द्वारा संपूर्ण कर्मों को नाशकर भवदु:खों से मुक्ति प्राप्त करता है।

– महाकवि रइधू

[मूल छंद मुखपृष्ठ पर दिया गया है]

आ त्म ध र्म

शाश्वत सुख का, आत्म शान्ति का, प्रगट करे जो मर्म।
समयसार का सार, सभी को प्रिय, यह आतम धर्म॥

वर्ष : ३३ [३९२] अंक : ८

धनि मुनि जिनकी लगी लौ शिवओरनै ॥टेक॥
सम्यगदर्शनज्ञानचरननिधि,
धरत हरत भ्रमचोरनै ॥धनि० ॥
यथाजात मुद्राजुत सुन्दर,
सदन विजन गिरिकोरनै।
तृन कंचन अरि स्वजन गिनत सम,
निंदन और निहोरनै ॥धनि० ॥
भवसुख चाह सकल तजि बलसजि,
करत द्विविध तपघोरनै।
परमविरागभाव पवितैं नित,
चूरत करम कठोरनै ॥धनि० ॥
छीन शरीर न हीन चिदानन,
मोहत मोहझकोरनै।
जग-तप-हर भविकुमुद,
निशाकर मोदन 'दौल' चकोरनै ॥धनि० ॥

मानव भव सफल कर

सरकारी कर्मचारी तो ५५ वर्ष की उम्र में ही सेवानिवृत्त हो जाते हैं परंतु व्यापारियों का तो ऐसा कोई नियम नहीं है कि ५५-५६ वर्ष में व्यापार से निवृत्त होकर आत्मा का कुछ हित करें।

खाने-पीने की कमी नहीं, धन की कमी नहीं; तो भी निवृत्ति लेकर आत्महित नहीं करते। अरे! ६०-७० वर्ष में भी निवृत्त नहीं होते तो मरकर कहाँ जावेंगे? अरे! ममता के परिणाम में मरकर तिर्यंच आदि में अवतार होगा।

श्रीमद् राजचन्द्र तो कहते हैं कि—मुमुक्षुओं को आजीविका का साधन हो तो विशेष प्रवृत्ति नहीं करना चाहिये। यहाँ तो रोटियों की कमी नहीं, फिर भी माथे पोटली बाँधता है। अरे रे! कहाँ जाना है? जीवन थोड़ा है और यह क्या करता है? भाई! ऐसा मनुष्य भव मिला और सत् समझने का अवसर आया है तो चार-छह-आठ घंटे वाँचन-श्रवण-मनन-सत्समागम करके अपने आत्मा का हित करके मानव भव सफल कर।

—पूज्य स्वामीजी

इमि जानि आलस हानि साहस ठानि, यह सिख आदरौ;
जबलौं न रोग जरा गहै, तबलौं झटिति निज हित करौ॥

— पंडित दौलतरामजी

सम्पादकीय

उत्तम तप

एक अनुशीलन

आचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम प्रवचनसार की 'तात्पर्यवृत्ति' नामक संस्कृत टीका (७९वीं गाथा) में तप की परिभाषा आचार्य जयसेन ने इसप्रकार दी है —

'समस्तरागादिपरभावेच्छात्यागेन स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं तपः।'

समस्त रागादि परभावों की इच्छा के त्याग द्वारा स्वस्वरूप में प्रतपन करना-विजयन करना तप है। तात्पर्य यह है कि समस्त रागादि भावों के त्यागपूर्वक आत्मस्वरूप में-अपने में लीन होना अर्थात् आत्मलीनता द्वारा विकारों पर विजय प्राप्त करना तप है।

इसीप्रकार का भाव प्रवचनसार की तत्त्वदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने भी व्यक्त किया है।[१] 'धवल' में इच्छा निरोध को तप कहा है।[२] इसप्रकार हम देखते हैं कि नास्ति से इच्छाओं का अभाव और अस्ति से आत्मस्वरूप में लीनता ही तप है।

तप के साथ लगा 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। सम्यग्दर्शन के बिना किया गया समस्त तप निरर्थक है। कहा भी है —

सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं॥५॥[३]

यदि कोई जीव सम्यक्त्व के बिना करोड़ों वर्षों तक उग्र तप भी करे तो भी वह बोधिलाभ प्राप्त नहीं कर सकता।

इसीप्रकार का भाव पंडित दौलतरामजी ने भी व्यक्त किया है —

---

१. प्रवचनसार, गाथा १४ की टीका;
२. धवला पुस्तक १३, खंड ५, भाग ४, सूत्र २६, पृष्ठ ५४
३. आचार्य कुन्दकुन्द : अष्टपाहुड़ (दर्शनपाहुड़), गाथा ५

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरै जे।
ज्ञानी के छिन माँहि, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते॥[1]

देह और आत्मा का भेद नहीं जाननेवाला अज्ञानी मिथ्यादृष्टि यदि घोर तपश्चरण भी करे तब भी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। समाधिशतक में आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं —

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम्।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वापि परमं तपः॥३३॥

जो अविनाशी आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं जानता, वह घोर तपश्चरण करके भी मोक्ष को प्राप्त नहीं करता।

उत्तमतप सम्यक्चारित्र का भेद है और सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान बिना नहीं होता। परमार्थ के बिना अर्थात् शुद्धात्मतत्त्वरूपी परम अर्थ की प्राप्ति बिना किया गया समस्त तप बालतप है। आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में लिखते हैं —

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेदि।
तं सव्वं बालतवं बालवदं बेंति सव्वण्हू॥१५२॥

परमार्थ में अस्थित अर्थात् आत्मानुभूति से रहित जो जीव तप करता है और व्रत धारण करता है, उसके उन सब व्रतों और तप को सर्वज्ञ भगवान बालव्रत और बालतप कहते हैं।

जिनागम में उत्तमतप की महिमा पद-पद पर गायी गयी है। भगवती आराधना में तो यहाँ तक लिखा है —

तं णत्थि जं ण लब्भइ तवसा सम्मं कएण पुरिसस्स।
अग्गीव तणं जलिओ कम्मतणं डहदि य तवग्गी॥१४७२॥
सम्मं कदस्स अपरिस्सवस्स ण फलं तबस्स बण्णेदुं।
कोई अत्थि समत्थे जस्स वि जिब्भा सयसहस्सं॥१४७३॥

जगत में कोई ऐसा पदार्थ नहीं जो निर्दोष तप से पुरुष को प्राप्त न हो सके अर्थात् तप से सर्व उत्तम पदार्थों की प्राप्ति होती है। जिसप्रकार प्रज्वलित अग्नि तृण को जलाती है; उसीप्रकार

---

१. छहढाला, चतुर्थढाल, छंद ५

तपरूपी अग्नि कर्मरूप तृण को जलाती है। उत्तम प्रकार से किया गया कर्मास्रव रहित तप का फल वर्णन करने में हजार जिह्वा वाला भी समर्थ नहीं हो सकता।

तप की महिमा गाते हुए महाकवि द्यानतरायजी लिखते हैं —

तप चाहैं सुरराय, करम शिखर को बज्र है।
द्वादश विध सुखदाय, क्यों न करै निज सकति सम॥
उत्तम सब मांहि बखाना, करम शैल को बज्र समाना॥[१]

उक्त पंक्तियों में दो-दो बार तप के लिये कर्मरूपी पर्वतों को भेदनेवाला बताया गया है। यह भी कहा गया है कि जिस तप को देवराज इंद्र भी चाहते हैं, जो वास्तविक सुख प्रदान करनेवाला है; उसे दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त कर हम भी अपनी शक्ति अनुसार क्यों न करें? अर्थात् हमें अपनी शक्ति अनुसार तप अवश्य करना चाहिये।

जिस तप के लिये देवराज तरसें और जो तप कर्म-शिखर को वज्र समान हो वह तप कैसा होता होगा—यह बात मननीय है। उसे मात्र दो-चार दिन भूखे रहने या अन्य प्रकार से किये बाह्य काय-क्लेशादि तक सीमित नहीं किया जा सकता।

उत्तमतप अपने स्वरूप और सीमाओं की सम्यक् जानकारी के लिये गंभीरतम अध्ययन, मनन, चिंतन की अपेक्षा रखता है।

यदि भोजनादि नहीं करने का नाम ही तप होता तो फिर देवता उसके लिये तरसते क्यों? भोजनादि का त्याग तो वे आसानी से कर सकते हैं। उनके भोजनादि का विकल्प भी हजारों वर्ष तक नहीं होता। यह बात संयम की चर्चा करते समय विस्तार से स्पष्ट की जा चुकी है।

तप दो प्रकार का माना गया है — (१) बहिरंग और (२) अंतरंग।

बहिरंग तप छह प्रकार का होता है[२] — (१) अनशन (२) अवमौदर्य (३) वृत्तिपरिसंख्यान (४) रसपरित्याग (५) विविक्त शय्यासन और (६) काय-क्लेश।

---

१. दशलक्षण पूजन, तप संबंधी छंद

२. अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यंतपः।

– तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, सूत्र १९

इसीप्रकार अंतरंग तप भी छह प्रकार का होता है[१] — (१) प्रायश्चित (२) विनय (३) वैयावृत्य (४) स्वाध्याय (५) व्युत्सर्ग और (६) ध्यान।

इसप्रकार कुल तप बारह प्रकार के होते हैं।

उक्त समस्त तपों में—चाहे वे बाह्य तप हों या अंतरंग, एक शुद्धोपयोगरूप वीतरागभाव की ही प्रधानता है। इच्छाओं के निरोधरूप शुद्धोपयोगरूपी वीतरागभाव ही सच्चा तप है। प्रत्येक तप में वीतरागभाव की वृद्धि होनी ही चाहिए – तभी वह तप है, अन्यथा नहीं।

इन संदर्भ में आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी के विचार दृष्टव्य हैं —

''अनशनादि को तथा प्रायश्चित्तादि को तप कहा है, क्योंकि अनशनादि साधन से प्रायश्चित्तादिरूप प्रवर्तन करके वीतरागभावरूप सत्य तप का पोषण किया जाता है; इसलिये उपचार से अनशनादि को तथा प्रायश्चित्तादि को तप कहा है। कोई वीतरागभावरूप तप को न जाने और इन्हीं को तप जानकर संग्रह करे तो संसार ही में भ्रमण करेगा। बहुत क्या, इतना समझ लेना कि निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है, अन्य नाना विशेष बाह्यसाधन की अपेक्षा उपचार से किये हैं, उनको व्यवहारमात्र धर्मसंज्ञा जानना।''[२]

''ज्ञानीजनों को उपवासादि की इच्छा नहीं है, एक शुद्धोपयोग की इच्छा है; उपवासादि करने से शुद्धोपयोग बढ़ता है, इसलिए उपवासादि करते हैं। तथा यदि उपवासादि से शरीर या परिणामों की शिथिलता के कारण शुद्धोपयोग को शिथिल होता जाने तो वहाँ आहारादिक ग्रहण करते हैं।.....

प्रश्न—यदि ऐसा है तो अनशनादिक को तप संज्ञा कैसे हुई ?

समाधान—उन्हें बाह्यतप कहा है। सो बाह्य का अर्थ यह है कि—'बाहर से औरों को दिखाई दे कि यह तपस्वी है', परंतु आप तो फल जैसे अंतरंग परिणाम होंगे, वैसा ही पायेगा; क्योंकि परिणामशून्य शरीर की क्रिया फलदाता नहीं है.....।

बाह्य साधन होने से अंतरंग तप की वृद्धि होती है इसलिये उपचार से इनको तप कहा

---

१. प्रायश्चितविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्। तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, सूत्र २०

२. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३३

है; परंतु यदि बाह्य तप तो करे और अंतरंग तप न हो तो उपचार से भी उसे तपसंज्ञा नहीं है।''[१]

''तथा अंतरंग तपों में प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, त्याग और ध्यानरूप जो क्रियाएँ; उनमें बाह्य प्रवर्तन उसे तो बाह्य तपवत् ही जानना। जैसे अनशनादि बाह्य क्रिया हैं उसीप्रकार यह भी बाह्य क्रिया हैं; इसलिए प्रायश्चित्तादि बाह्य साधन अंतरंग तप नहीं हैं। ऐसा बाह्य प्रवर्तन होने पर जो अंतरंग परिणामों की शुद्धता हो, उसका नाम अंतरंग तप जानना।''[२]

यद्यपि अंतरंग तप ही वास्तविक तप है, बहिरंग तप को उपचार से तप संज्ञा है; तथापि जगतजनों को बाह्य तप करनेवाला ही बड़ा तपस्वी दिखायी देता है।

एक घर के दो सदस्यों में से एक ने निर्जल उपवास किया, पर दिन भर गृहस्थी के कार्यों में ही उलझा रहा। दूसरे ने यद्यपि दिन में भोजन दो बार किया, किंतु दिनभर आध्यात्मिक अध्ययन, मनन, चिंतन, लेखन, पठन-पाठन करता रहा।

जगतजन उपवास करनेवाले को ही तपस्वी मानेंगे, पठन-पाठन करनेवाले को नहीं। जितना कोमल व्यवहार उपवासवाले से किया जायेगा उतना पठन-पाठनवाले से नहीं। यदि उसने अधिक गड़बड़ की तो डाँट भी पड़ेगी। कहा जायेगा कि तुमने तो दो-दो बार खाया है, उसका तो उपवास था। हर बात में उपवासवाले को प्राथमिकता प्राप्त होगी।

ऐसा क्यों होता है ?

इसलिए कि जगतजन उसे तपस्वी मानते हैं, जबकि उसने कुछ नहीं किया। उपवास किया अर्थात् भोजन नहीं किया, पानी नहीं पिया। यह सब तो नहीं किया हुआ। किया क्या ? कुछ नहीं। जबकि अध्ययन-मनन-चिंतन, पठन-पाठन करनेवाले ने यह सब किया है - बाह्य ही सही; पर ये सब स्वाध्याय के ही रूप हैं और स्वाध्याय भी एक तप है। पर उसे यह भोला जगत तपस्वी मानने को तैयार नहीं, क्योंकि उसे यह कुछ किया-सा ही नहीं लगता।

उपवास तो कभी-कभी किया जाता है, पर स्वाध्याय और ध्यान प्रतिदिन किये जाते हैं। स्वाध्याय और ध्यान अंतरंग तप हैं और तपों में सर्वश्रेष्ठ हैं। फिर भी यह जगत स्वाध्याय और ध्यान करनेवालों की अपेक्षा उपवासादि काय-क्लेश करनेवालों को ही महत्त्व देता है।

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३१

२. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३२

यह दुनियाँ ऐसा भेद मुनिराजों में भी डालती है। दिन-रात आत्मचिंतन में रत ज्ञानी-ध्यानी मुनिराजों की अपेक्षा जगत-प्रपंचों में उलझे किंतु दश-दश दिन तक उपवास के नाम पर लंघन करनेवालों को बड़ा तपस्वी मानती है, उनके सामने ज्यादा झुकती है; जबकि आचार्य समन्तभद्र ने तपस्वी की परिभाषा इसप्रकार दी है —

विषयाशावशातीतो निरारंभोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपो रक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥[१]

पंचेन्द्रियों के विषयों की आशा, आरंभ और परिग्रह से रहित; ज्ञान, ध्यान और तप में लीन तपस्वी ही प्रशंसनीय हैं।

उपवास के नाम पर लंघन की बात क्यों कहते हो ?

इसलिये कि ये लोग उपवास का भी तो सही स्वरूप नहीं समझते। मात्र भोजन-पान के त्याग को उपवास मानते हैं, जबकि उपवास तो आत्मस्वरूप के समीप ठहरने का नाम है। नास्ति से भी विचार करें तो पंचेन्द्रियों के विषय, कषाय और आहार के त्याग को उपवास कहा गया है, शेष तो सब लंघन हैं।

कषायविषयाहारो त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः॥[२]

इसप्रकार हम देखते हैं कि कषाय, विषय और आहार के त्यागपूर्वक आत्मस्वरूप के समीप ठहरना—ज्ञान-ध्यान में लीन रहना ही वास्तविक उपवास है; किंतु हमारी स्थिति क्या है ? उपवास के दिन हमारी कषायें कितनी कम होती हैं ? उपवास के दिन तो ऐसा लगता है जैसे हमारी कषायें चौगुनी हो गयी हैं।

एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि उक्त बारह तपों में प्रथम की अपेक्षा दूसरा, दूसरे की अपेक्षा तीसरा; इसीप्रकार अंत तक उत्तरोत्तर तप अधिक उत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण हैं। अनशन पहला तप है और ध्यान अंतिम। ध्यान यदि लगातार अंतर्मुहूर्त करे तो निश्चितरूप से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, किंतु उपवास वर्ष भर भी करे तो केवलज्ञान की गारंटी नहीं। यह

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, छंद १०
२. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३१

नकली उपवास की बात नहीं, असली उपवास की बात है। प्रथम तीर्थंकर मुनिराज ऋषभदेव दीक्षा लेते ही एक वर्ष एक माह और सात दिन तक निराहार रहे, फिर भी हजार वर्ष तक केवलज्ञान नहीं हुआ। भरत चक्रवर्ती को दीक्षा लेने के बाद आत्मध्यान के बल से एक अंतर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान हो गया।

अनशन से अवमौदर्य, अवमौदर्य से वृत्तिपरिसंख्यान, वृत्तिपरिसंख्यान से रसपरित्याग अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इस बात को स्पष्ट करने के लिये इनका सामान्य स्वरूप जानना आवश्यक है।

अनशन में भोजन का पूर्णत: त्याग होता है, पर अवमौदर्य में एक बार भोजन किया जाता है; इस कारण इसे एकासन भी कहते हैं। यद्यपि इसमें एक बार भोजन किया जाता है, तथापि भर पेट नहीं; इस कारण इसे ऊनोदर भी कहते हैं। किंतु आज यह ऊनोदर न रहकर दूनोदर हो गया है; क्योंकि लोग एकासन में एक समय का नहीं, दोनों समय का गरिष्ठ भोजन कर लेते हैं।

भोजन को जाते समय अनेक प्रकार की अटपटी प्रतिज्ञाएँ ले लेना; उनकी पूर्ति पर ही भोजन करना, अन्यथा उपवास करना वृत्तिपरिसंख्यान है। षटरसों में कोई एक-दो या छहों ही रसों का त्याग करना, नीरस भोजन लेना रसपरित्याग है।

उपर्युक्त चारों ही तप भोजन या भोजन त्याग से संबंधित हैं। इनमें इच्छाओं का निरोध एवं शारीरिक आवश्यकताओं के बीच कितना संतुलित नियमन है—यह दृष्टव्य है।

इनमें एक वैज्ञानिक क्रमिक विकास है। यदि चल सके तो भोजन करो ही नहीं (अनशन), न चले तो एक बार दिन में शांति से अल्पाहार लो (अवमौदर्य), वह भी अनेक नियमों के बीच बंध कर, अनर्गल नहीं (वृत्तिपरिसंख्यान), और जहाँ तक बन सके नीरस हो, क्योंकि सरस आहार गृद्धता बढ़ाता है; पर शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति करनेवाला होना चाहिये, अत: सभी रसों का सदा त्याग नहीं, किंतु बदल-बदल कर विभिन्न रसों का विभिन्न समयों पर त्याग हो, जिससे शरीर की आवश्यकता-पूर्ति भी होती रहे और जिह्वा की लोलुपता पर भी प्रतिबंध रहे (रसपरित्याग)।

इससे स्पष्ट है कि तप शरीर को सुखाने का नाम नहीं, इच्छाओं के निरोध का नाम है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि अनशन से ऊनोदर अधिक महत्त्वपूर्ण क्यों है? जबकि अनशन में भोजन किया ही नहीं जाता और ऊनोदर में दिन में एक बार भूख से कम खाया जाता है। अन्य कार्यों में उलझे रहकर भोजन के पास फटकना ही नहीं की अपेक्षा निर्विघ्न भोजन की प्राप्ति हो जाने पर उसका स्वाद चख लेने पर भी अधपेट रह जाने में – बीच में ही भोजन छोड़ देने में इच्छा का निरोध अधिक है।

इसीप्रकार भोजन को जाना ही नहीं अलग बात है और जाकर भी अटपटे नियमों के अनुसार भोजन न मिलने पर भोजन नहीं करने में भी इच्छा निरोध अधिक है। तथा सरस भोजन की प्राप्ति होने पर भी नीरस भोजन करना इससे भी अधिक इच्छा निरोध की कसौटी है।

अनशन में इच्छाओं की अपेक्षा पेट का निरोध अधिक है। ऊनोदरादि में क्रमशः पेट के निरोध की अपेक्षा इच्छाओं का निरोध अधिक है। अतः अनशनादि की अपेक्षा आगे–आगे के तप अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। हमने पेट के काटने को तप मान लिया है तबकि आचार्यों ने इच्छाओं के काटने को तप कहा है।

उक्त तपों में शारीरिक स्वास्थ्य का ध्यान रखकर भी रसनेन्द्रिय पर पूरा–पूरा अनुशासन रखा गया है। उन्होंने जीवन भर किसी रस विशेष का त्याग करने की अपेक्षा बदल–बदल कर रसों के त्याग पर बल दिया। रविवार को नमक नहीं खाना, बुधवार को घी नहीं खाना आदि रसियों की कल्पना में यही भावना काम करती है। एक रस छह दिन खाने और एक दिन नहीं खाने में शरीर के लिये आवश्यक तत्त्वों की कमी भी नहीं होगी और स्वाद की प्रमुखता भी समाप्त हो जायेगी।

कोई व्यक्ति यदि जीवन भर को नमक या घी छोड़ देता है तो प्रारंभ के कुछ दिनों तो उसे भोजन बेस्वाद लगेगा, परंतु बाद में उसी भोजन में स्वाद आने लगेगा; शरीर में उस तत्त्व की कमी हो जाने से स्वास्थ्य में गड़बड़ी हो सकती है। किंतु छह दिन खाने के बाद यदि एक दिन घी या नमक न भी खावे तो शारीरिक क्षति बिल्कुल न होगी और भोजन बेस्वाद हो जावेगा; अतः रसना पर अंकुश रहेगा।

एक मुनिराज ने एक माह का उपवास किया। फिर आहार को निकले। निरंतराय आहार मिल जाने पर भी एक ग्रास भोजन लेकर वापिस चले गये। फिर एक माह का उपवास

कर लिया। यह ऊनोदर का उत्कृष्ट उदाहरण है।

अज्ञानी कहता है कि जब दो माह का ही उपवास करना था तो फिर एक ग्रास भोजन करके भोजन का नाम ही क्यों किया ? नहीं करते तो दो माह का रिकार्ड बन जाता।

अज्ञानी सदा रिकार्ड बनाने के जोड़-तोड़ में ही रहता है। धर्म के लिये—तप के लिये रिकार्ड की आवश्यकता नहीं। रिकार्ड से तो मान का पोषण होता है। मान का अभिलाषी रिकार्ड बनाने के चक्कर में रहता है। धर्मात्मा को रिकार्ड की क्या आवश्यकता है ? मुनिराज ने भोजन को जाकर उपवास नहीं तोड़ा, उससे हो जानेवाले मान को तोड़ा है। एक माह बाद भोजन को इसलिये गये कि वे जानना चाहते थे कि जिस इच्छा को मारने के लिये उन्होंने उपवास किया है, वह मरी या नहीं, कमजोर हुई या नहीं ? निरंतराय आहार मिलने पर भी एक ग्रास लेकर छोड़ आये, जिससे पता लगा कि इच्छा का बहुत कुछ निरोध हो गया है।

निर्दोष एकांत स्थान में प्रमादरहित सोने-बैठने की वृत्ति विविक्तशय्यासन तथा आत्म-साधना एवं आत्माराधना में होनेवाले शारीरिक कष्टों की परवाह नहीं करना कायक्लेश तप है। इनमें ध्यान रखने की बात यह है कि काय को क्लेश देना तप नहीं है, वरन् काय-क्लेश के कारण आत्माराधना में शिथिल नहीं होना मुख्य बात है।

इच्छाओं का निरोध होकर वीतराग भाव की वृद्धि होना तप का मूल प्रयोजन है। कोई भी तप जब तक उक्त प्रयोजन की सिद्धि करता है, तब तक ही वह तप है।

यह तो सामान्यरूप से बाह्य तपों की संक्षिप्त चर्चा हुई। इनमें प्रत्येक पृथक्-पृथक् विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है, किंतु इसके लिये यहाँ अवकाश नहीं है। अब थोड़े रूप में कतिपय अंतरंग तपों पर विचार अपेक्षित है। [उत्तरार्द्ध अगले अंक में]

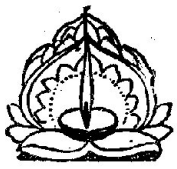

एक आत्मा को जानना ही भूतार्थ है

परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथराज 'समयसार' पर परमपूज्य आचार्य अमृतचंद्र ने 'आत्मख्याति' नामक अत्यंत महत्त्वपूर्ण टीका संस्कृत भाषा में लिखी है। १३वीं गाथा पर आठवें कलश के पश्चात् लिखी गयी टीका पर पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचनों का संक्षिप्त सार यहाँ दिया जा रहा है।

[गतांक से आगे]

अब सम्यग्दर्शन का विषय कहते हैं। सामान्य और विशेष के भेद से होनेवाले राग-मिश्रित विचारों को छोड़कर अभेद स्वभाव का अनुभव करना सम्यग्दर्शन है। परंतु पहले सामान्य और विशेष दोनों को निरपेक्ष स्वतंत्र मानना चाहिये। भगवान आत्मा का सामान्य स्वभाव अपनी पर्याय का आलिंगन नहीं करता। प्रवचनसार गाथा १७२ में यह बात आती है। सामान्यस्वभाव विशेष का आलिंगन करे या विशेषस्वभाव सामान्य का आलिंगन करे तो दो अंश एक हो जाते हैं, दो भिन्न-भिन्न अंश नहीं रहते। सामान्य अंश में पर्याय अंश का और पर्यायअंश में सामान्यअंश का अभाव है—ऐसा मानने से ही दो अंश स्वतंत्र सिद्ध होते हैं।

द्रव्यसामान्य और पर्यायविशेष ऐसे दोनों अंश स्वतंत्र सिद्ध करके कहते हैं कि विशेष सामान्य में से आता है। यह सापेक्ष कथन है। परंतु कब? प्रथम निरपेक्ष साबित करने के पश्चात् ही सापेक्ष का यथार्थ ज्ञान होता है।

सामान्य और विशेष संबंधी विचार प्रथम भूमिका में आते हैं, अतः सत्यार्थ हैं। परंतु शुद्ध जीव का अनुभव करते समय ऐसे रागमिश्रित विचार असत्यार्थ हैं, क्योंकि भेदरूप विचारों के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता।

प्रमाण नय आदि के यथार्थ विचारों से भी आत्मा को लाभ नहीं होता, उनसे सम्यग्दर्शन नहीं होता; पुण्य बन्ध होता है, धर्म नहीं होता—ऐसे विचारों को छोड़कर ज्ञायक स्वभाव की प्रतीति करने से सम्यग्दर्शन होता है।

नय श्रुतज्ञान का भेद है। वह ज्ञान करनेवाला है, विषयी है। निक्षेप ज्ञेय का भेद है, विषय है।

अब निक्षेपों का विचार करते हैं। नयों के द्वारा प्रचलित लोकव्यवहार को निक्षेप कहते हैं। निक्षेप चार प्रकार के होते हैं – नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

नाम निक्षेप – लोकव्यवहार में वस्तु को पहिचानने के लिये नाम की संज्ञा दी जाती है। उसमें किसी गुण, जाति या क्रिया का संबंध होने की आवश्यकता नहीं होती, मात्र नाम से काम होता है। लोक में महावीर, चतुर्भुज, सदासुख इत्यादि अनेक प्रकार के नाम चाहे जिस व्यक्ति के रख लिये जाते हैं, उनका गुण के साथ कोई संबंध नहीं होता। यदि इसे समझ लें तो नाम का झगड़ा नहीं रहता। किसी का नाम धर्मविजय हो और वह घोर पापी हो तो उसका वह नाम बदल नहीं दिया जाता।

स्थापना निक्षेप – 'यह वह है' इसप्रकार अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का प्रतिनिधित्व स्थापित करना स्थापना निक्षेप है। भगवान की प्रतिमा की स्थापना, स्थापना निक्षेप से करते हैं। जो प्रतिमा का निषेध करते हैं, वे स्थापना निक्षेप का निषेध करते हैं। 'यह साक्षात् सीमंधर भगवान हैं' इसप्रकार भगवान का प्रतिनिधित्व स्थापित करने का भाव पुण्यभाव है। 'जिन प्रतिमा जिन सारखी', भगवान की प्रतिमा की मुद्रा वीतरागी होनी चाहिये—ऐसा स्थापना का शुभभाव सम्यग्ज्ञान के पहले और बाद भी आता है। इसप्रकार स्थापना निक्षेप का विकल्प आता है, उसे व्यवहार कहते हैं। वह भी कब ? भेद को छोड़कर अभेद स्वभाव का निश्चय करे तब शुभविकल्प को व्यवहार कहते हैं।

द्रव्य निक्षेप – भूत अथवा भविष्य की पर्याय से वस्तु को वर्तमान में कहना द्रव्य निक्षेप है। राजपुत्र में राजा होने की योग्यता देखकर उसे वर्तमान में राजा कहते हैं। तीर्थंकर प्रकृति का उदय तो तेरहवें गुणस्थान में आता है, तो भी तीर्थंकर के गर्भ, जन्म और तप कल्याणक मनाते हैं, तब उन्हें द्रव्य निक्षेप से भगवान कहते हैं। यह भावी द्रव्य निक्षेप कहलाता है। चौबीस तीर्थंकर तो सिद्ध हो गये हैं, फिर भी उन्हें भूतद्रव्य निक्षेप से तीर्थंकर मानकर उनकी प्रतिमा की स्थापना करते हैं। श्रेणिक को वर्तमान में भविष्य का आरोप करके तीर्थंकर कहते हैं। तथा मगध देश के राजा के रूप में पहिचानना भूत द्रव्य निक्षेप है। उसमें वर्तमान में भूत का आरोप

है। तीर्थंकरत्व और नृपत्व दोनों पर्यायें वर्तमान में नहीं हैं, किंतु शक्तिरूप योग्यता है। इसलिये वर्तमान में आरोप करके उसरूप से पहचानने का व्यवहार है।

भाव निक्षेप - वर्तमान पर्याय से वस्तु को वर्तमान में कहना भाव निक्षेप है। जैसे राज्यासन पर राजा बैठा हो, उसकी आज्ञा चलती हो, तभी उसे राजा कहना; सो भाव निक्षेप है।

इन चारों निक्षेपों का अपने-अपने लक्षण भेद से अनुभव करने पर वे भूतार्थ हैं। सम्यग्दर्शन के पहले नवतत्त्व प्रमाण-नय-निक्षेप आदि के विचार आते हैं-वे भूतार्थ हैं, व्यवहार से सत्यार्थ हैं। परंतु भिन्न लक्षण से रहित एक चैतन्य लक्षणरूप जीवस्वभाव का अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।

प्रमाण नय आदि के रागमिश्रित विचार स्वभाव-सन्मुख होने में कारण नहीं हैं। पहले वे विचार आते हैं, इसलिये इन्हें भूतार्थ कहते हैं। परंतु स्वभाव-सन्मुख होने पर वे अभूतार्थ हैं।

कोई मूर्ख घी के लोभ में आकर पानी में आटा सेके तो हलुआ नहीं बनेगा; उसीप्रकार नवतत्त्व के विचारों और प्रमाण नयादि के विकल्पों से मोक्षमार्ग नहीं होता। प्रमाता-प्रमाण-नय-निक्षेप आदि के भेदरूप विचारों को छोड़कर ज्ञायक स्वभाव का अनुभव करने पर मोक्षमार्ग होता है। इस विधि को जाने बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र नहीं होता है।

नवतत्त्व और प्रमाणादि के भेदरूप विचार आते अवश्य हैं; परंतु वे विश्वास करने योग्य नहीं हैं। एकरूप स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे विचार अभूतार्थ हैं।

घर में जाने पर आँगन छूट जाता है, आँगन वह घर नहीं। उसीप्रकार अंतर अनुभव होने पर प्रमाण-नय-निक्षेप आदि का विचार छूट जाता है। राग या भेद से धर्म नहीं होता, परंतु रागरहित अभेद स्वभाव के अवलंबन से धर्म होता है।

इसप्रकार प्रमाण-नय-निक्षेप में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है। उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। अन्य किसी उपाय से धर्म नहीं होता।

यहाँ व्रत-तप-शील आदि की बात नहीं की पर नवतत्त्व और प्रमाण आदि का विचार भी राग है, धर्म नहीं। अखंड स्वभाव की प्रतीति करे तो राग को व्यवहार कहते हैं। इस प्रकार प्रमाण-नय-निक्षेपों में भूतार्थनय से स्वयं जीव ही प्रकाशमान है।

आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप दशा प्रकट होने की योग्यता हो तब सुदेवादि की श्रद्धा निमित्त होती है। शुद्ध चिदानंद की प्रतीति और अनुभव के लिये प्रमाण आदि से विरुद्ध विचार काम में नहीं आते, परंतु भगवान की वाणी में कहे गये नवतत्त्व और प्रमाण आदि के विचार माल रखने के बारदाने की भाँति होते हैं। आत्मा का माल लेने के लिये सच्चे देवादि की श्रद्धा और नवतत्त्व आदि के विचार होते ही हैं; क्योंकि वे ज्ञान के ही विशेष हैं, व्यवहार के ही प्रकार हैं। उनके बिना वस्तु को चाहे जैसा साधा जावे तो विपर्यय हो जावेगा। सूतली के थैले में केसर लेने जाये तो मूर्ख कहलायेगा; उसीप्रकार आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान होने के पहले अपनी कल्पना से या मिथ्यादृष्टियों द्वारा कहे गये तत्त्व का विचार करे तो वह मूर्ख है। विपरीत तत्त्व विचार तो सम्यग्दर्शन में निमित्त भी नहीं है।

आवश्यकतानुसार व्यवहार के अभाव की तीन रीतियाँ कहते हैं। चतुर्थ गुणस्थान प्रकट करने के पहले प्रमाण, नय और निक्षेप से वस्तु को जानकर प्रमाणादि के विकल्पों का लक्ष छोड़कर श्रद्धा-ज्ञान की सिद्धि करना। ज्ञान-श्रद्धान के सिद्ध होने पर पुनः ज्ञान-श्रद्धान के लिये प्रमाण आदि की कोई आवश्यकता नहीं है। भगवान ने जैसे तत्त्व कहे उन्हें वैसा जानना व्यवहार है। उस व्यवहार का अभाव करके श्रद्धा-ज्ञान प्रकट करना निश्चय है। इसप्रकार प्रथम व्यवहार का अभाव हुआ।

दूसरी अवस्था में प्रमाण आदि के अवलंबन से विशेष ज्ञान होता है। सम्यग्दर्शन होने के बाद श्रद्धा के लिये प्रमाण आदि की आवश्यकता नहीं है। परंतु आत्मा के आश्रय से ज्ञान की निर्मलता होती है और रागादि घटते हैं। पर इस भूमिका में नवतत्त्व और प्रमाणादि के विचार आते हैं। उनका भी अभाव करके मोह-राग-द्वेष के सर्वथा अभावरूप यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है, जिससे उसके केवलज्ञान प्रगट होता है। मुनिराज को भी भेदरूप विचार आते हैं, इसलिये वे विचार भूतार्थ कहे जाते हैं; परंतु निश्चय की अपेक्षा तो वे अभूतार्थ हैं। छठवें गुणस्थान तक निमित्त का बुद्धिपूर्वक अवलंबन होता है। केवलज्ञान होने के बाद प्रमाणादि का अवलंबन नहीं रहता।

यहाँ प्रमाणादि का अवलंबन कहा है—उसका आशय यह है कि प्रमाणादि के विकल्परूप निमित्त होता है। सम्यग्दर्शन होने के बाद जब तक यथाख्यातचारित्र और

केवलज्ञान नहीं हुआ तब तक व्यवहार आता है इसलिये उसे भूतार्थ कहा है। परंतु स्वभावदृष्टि से वह अभूतार्थ ही है।

तीसरी साक्षात् सिद्ध अवस्था है। केवलज्ञानी को योग आदि का कंपन था, उसका अभाव होकर साक्षात् सिद्ध अवस्था प्रकट होती है। इसप्रकार सिद्ध अवस्था में प्रमाण, नय, निक्षेप का अभाव ही है।

श्रोता का जैसा पुण्य होता है वैसा ही वक्ता की वाणी का निमित्त बन जाता है। तेरहवीं गाथा अत्यंत विस्तारपूर्वक कही गयी है। उसमें बहुत सी बातें और उसके रहस्य अत्यधिक स्पष्टतापूर्वक और विस्तार से कहे गये हैं। उसका विशेष अभ्यास करके अंतरंग की परिणति से मेल बैठाना चाहिये और परम तत्त्व का लाभ प्राप्त करना चाहिये। शास्त्र और वाणी तो निमित्तमात्र हैं। अपने में यथार्थ की महिमा का अभ्यास किया जाये तो स्वयं बहुत सा लाभ प्राप्त कर सकता है। ●●

श्री दि० जिनबिम्ब पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का अपूर्व लाभ

मद्रास - यहाँ दिनांक ४-३-७८ से ११-३-७८ तक श्री भगवान महावीर नूतन जिनमंदिर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव संपन्न होने जा रहा है। इस अवसर पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों के साथ-साथ अन्य आगन्तुक विद्वान श्री बाबूभाई मेहता, डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल आदि के प्रवचनों का भी लाभ प्राप्त होगा। साथ ही दक्षिण भारत के जैन तीर्थों की यात्रा का भी लाभ मिलेगा।

अतः सभी साधर्मी भाईयों से अनुरोध है कि इस पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव में पधारकर धर्म लाभ लें।

— मंत्री, श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल, मद्रास

उसे परमागम कहते हैं

परमपूज्य दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम 'नियमसार' की आठवीं गाथा पर हुए पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचनों का सार यहाँ दिया जा रहा है। मूल गाथा इसप्रकार है —

तस्स मुहुग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं
आगममिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था ॥८॥

पूर्वोक्त परमात्मा के मुख से निकली हुई पूर्वापर विरोधरहित, तत्त्वार्थों को कथन करनेवाली शुद्ध वाणी को आगम कहा गया है।

त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमात्मा अरहंतदेव के मुखकमल में से निकली हुई वाणी आगम है, वह वाणी पूर्वापर दोषरहित होती है। पहले पुण्य को बंध का कारण कहे और पश्चात् उसी पुण्य को मोक्ष का भी कारण कहे—इसप्रकार अगले-पिछले कथन में विरोध नहीं होता। चारों अनुयोगों का कथन पूर्वापर विरोध रहित ही होता है।

कभी तो दया को पुण्य कहे और कभी दया से धर्म बताये—ऐसी भगवान की वाणी होती ही नहीं—वह तो पूर्वापर विरोध रहित ही होती है। जिसमें ऐसा विरोध हो वह वाणी सर्वज्ञ की नहीं है। पर्याय को अंतर्मुख करके जिन्होंने वीतरागता और सर्वज्ञता प्रकट की, उनकी वाणी में परस्पर विरोधी कथन होता ही नहीं—यह सर्वज्ञ की वाणी का प्रथम लक्षण है। जगत के द्रव्य-गुण-पर्याय सभी स्वतंत्र हैं—ऐसा भी कहे, और फिर ऐसा भी कहे कि दूसरे के कारण पर्याय होती है अर्थात् पर्याय का कर्ता कोई अन्य है, तो इसमें पूर्वापर दोष है—ऐसी वाणी वीतराग की नहीं होती। चैतन्य स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, और राग के कारण भी सम्यग्दर्शन होता है—ऐसा विरुद्ध कथन सर्वज्ञ की वाणी में नहीं होहता।

द्रव्यानुयोग में कथन आता है कि कोई किसी दूसरे का कुछ भी कर नहीं सकता—शरीर की क्रिया को आत्मा कर नहीं सकता; तथा चरणानुयोग में ऐसा कहा कि 'देखकर चलो' वहाँ उसका प्रयोजन शरीर की क्रिया को आत्मा कर सकता है अर्थात् शरीर को

चला सकता है—ऐसा बताना नहीं है; किंतु प्रमाद से अशुभ भाव न हो जावें अर्थात् प्रमाद से बचाने के लिये यह कथन किया गया है। इसप्रकार इन दोनों कथनों में विरोध नहीं, अपितु सुमेल है।

सर्वज्ञदेव की वाणी में चाहे जितनी अपेक्षाओं से कथन आवे, फिर भी कहीं विरुद्धता नहीं होती अर्थात् वह वाणी दोषरहित है और शुद्ध है। शुद्ध चैतन्य आत्मा का अवलंबन लेने का निर्देश करनेवाली होने के कारण वह वाणी भी शुद्ध है। राग, निमित्त इत्यादि का अवलंबन छोड़ और निज शुद्ध चिदानंद कारणपरमात्मा का अवलंबन कर; ऐसे वीतराग की वाणी स्वभाव का ही अवलंबन करवाती है, इसलिये वह वाणी शुद्ध है। ऐसी निर्दोष और शुद्ध वाणी को आगम कहते हैं। इसी लक्षण से शास्त्र की परीक्षा करनी चाहिये। जो पराश्रय से लाभ बतावे, राग से धर्म मनावे, पर्याय की पराधीनता कहे—वह वाणी निर्दोष नहीं, शुद्ध नहीं, और आगम भी नहीं।

सर्वज्ञदेव कथित वाणी ही निर्दोष और शुद्ध है, वह वाणी ही तत्त्वार्थ का कथन करती है। सप्ततत्त्व-द्रव्य-गुण-पर्याय इत्यादि तत्त्वार्थ को वीतराग वाणी ही कहती है, इन सबका यथार्थ स्वरूप अन्यत्र कहीं भी नहीं है। ऐसे आगम को पहचाने बिना हर किसी के लिखे हुए कुशास्त्र को माने तो उसे आगम की व्यवहार श्रद्धा भी नहीं है। सर्वज्ञदेव ने जो परमागम कहा और जो संतों की परंपरा में चला आया है, वही सच्चा परमागम है। ऐसा परमागम ही तत्त्वार्थ का यथार्थ स्वरूप प्रतिपादन करने में समर्थ है-अन्य नहीं।

धर्मी की वाणी अनेक भावगर्भित गंभीर होती है। जहाँ सर्वज्ञता प्रकट हुई वहाँ वाणी की रचना भी चतुर होती है। यद्यपि वाणी का कर्ता आत्मा नहीं है, फिर भी ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है कि जहाँ आत्मा की पवित्रता प्रकट हुई वहाँ वचन भी गंभीर भावयुक्त चतुर निकलते हैं। सर्वज्ञ की वाणी में चाहे जितना विस्तार हो परंतु कहीं भी पूर्वापर विरोध नहीं होता।

भगवान रागरहित हैं और उनकी वाणी भी हिंसादि पापक्रिया रहित होती है। राग भी निश्चय से पाप ही है। सर्वज्ञ की वाणी वीतरागता बतानेवाली है—वह रागरहित है, राग का ज्ञान तो करवाती है किंतु राग से लाभ नहीं मनवाती। अन्य कुशास्त्र तो पापसूत्र हैं और वे राग से धर्म होना मनवाते हैं इसलिये हिंसादि पापक्रिया सहित हैं। सर्वज्ञ की वाणी चिदानंद स्वभाव के

आश्रय से ही कल्याण होना बतलाती है, रागाश्रय से कल्याण होना नहीं बताती। वह वाणी हिंसादि पापक्रियाओं से रहित है–अतः शुद्ध है।

व्यवहार के आश्रय से वास्तव में लाभ होता है—ऐसा कहे, तो वह भी पापक्रिया में समाविष्ट हो जाता है। सर्वज्ञ की वाणी राग का ज्ञान करवाती है किंतु उससे लाभ होता है—ऐसा नहीं कहती। राग का पोषण हो ऐसा वीतराग वाणी का उपदेश नहीं है, इसलिये वह शुद्ध है। भगवान के स्वयं तो राग का अभाव हो ही चुका है, साथ ही उनकी वाणी में भी रागपोषक उपदेश नहीं होता–अतः वह वाणी भी शुद्ध है।

अब वह वाणी कैसी है वह विशेषरूप से कहते हैं। भगवान की वाणी भव्य जीवों को कर्णरूपी अंजलिपुट से पीने योग्य अमृत हैं। वाणी है तो उसके श्रोता भी हैं, इसप्रकार वाणी के समक्ष श्रोता को रखा। जिसप्रकार हाथ की अंजलि से भर–भर कर पानी पीते हैं; उसीप्रकार भव्य जीवों के लिये कर्णरूपी अंजलिपुट भर–भरकर भगवान की वाणीरूपी अमृत पीने योग्य है। भगवान की वाणी झेलनेवाले श्रोतागण न हों—ऐसा नहीं बनता। भगवान वक्ता हैं और भव्य जीव उनकी वाणी को श्रवण करके झेलते हैं—ऐसा कहा।

परमागम मुक्तिसुंदरी के मुख का दर्पण है अर्थात् जो जीव आगमज्ञान करे उसे मुक्तिसुंदरी का मुख दिखायी पड़ता है। भगवान के मुख से निकली हुई वाणी मुक्ति का मुख–कमल दिखलाने के लिये दर्पणवत् है। भगवान के मुख से वाणी निकली उसके समक्ष मुक्ति के मुख की बात की। भगवान की वाणी पहिचाननेवाले को अपनी मुक्ति की निःशंकता हो जाती है, इसलिये वह वाणी मुक्ति का मुख दिखानेवाला दर्पण है। वीतराग वाणी के अतिरिक्त कहीं भी मुक्ति या मुक्ति का मार्ग नहीं है।

वह परमागम संसार–समुद्र के महा भँवर में निमग्न समस्त भव्य जीवों को हस्तावलंबन देता है। संसार–समुद्र में पड़े हुए जीवों को आत्मस्वरूप बतलाती है, इसलिये मोक्षमार्ग में ले जाने के लिये वह वाणी हस्तावलंबन (हाथ का सहारा) है; किंतु जो स्वयं पहचाने उसे हस्तावलंबन कहा जाये। चौरासी के अवताररूपी सागर में डूबे हुए भव्य जीवों को संसार से पार करने के लिये जिनवाणी हस्तावलंबन समान है।

फिर, वह परमागम कैसा है ? 'सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखामणि है।'

परमागम सहज वैराग्यरूपी महल की शिखामणि के समान है, कारण कि परमागम का तात्पर्य सहज वैराग्य की उत्कृष्टता है।

परमागम किसी परद्रव्य में प्रेम नहीं करवाता किंतु समस्त परपदार्थों से सहज वैराग्य करवाता है; चैतन्य के अंतरंग परिणमन में सहजरूप से ही राग का अभाव हो जाता है अर्थात् स्वभाव में एकाग्रता होने पर राग के अभावरूप वैराग्य सहज ही परिणमित हो जाता है—ऐसे सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के शिखामणिरूप परमागम है। अकेला वीतराग भाव ही परमागम में भरा है। परमागम स्वभाव की पूर्णता का वर्णन तो करता ही है, साथ ही पर के प्रति राग के अभावरूप अपार वीतरागता का वर्णन भी करता है।

विषयों में सुख है अथवा राग हो तो कोई बाधा नहीं—ऐसा कहे तो वह वीतराग की वाणी नहीं। वीतराग के वचन कहीं भी, किसी भी काल में, राग के सूक्ष्मांश का भी पोषण नहीं करते; वह तो सहज वैराग्य की उत्कृष्टता का पोषण करते हैं। जहाँ ज्ञानी के भोग को निर्जरा का हेतु कहा हो वहाँ भी राग के पोषण करवाने का प्रयोजन नहीं है; किंतु प्रयोजन है स्वभाव दृष्टि के जोर-बल को बताने का-अर्थात् वैराग्य के ही पोषण करवाने का अभिप्राय है

चैतन्यस्वभाव का भान करवाकर उसमें एकाग्रता करवाते हैं और अनन्त परपदार्थों का अपने में अभाव बतलाकर उनसे वैराग्य करवाते हैं। वीतराग वाणी तो तीर्थंकरों और केवली भगवंतों से भी उदासीनता करवाकर स्वभाव में एकाग्र होने का आदेश देती है। परमागम तो वीतराग की वाणी के प्रति भी वैराग्य करवाता है। इसप्रकार परमागम सहज वैराग्य करवानेवाला है, अतः वह सहज वैराग्यरूप महल की चोटी के ऊपर का रत्न है।

वह परमागम अब तक अनदेखे ऐसे मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी है। जीव ने मोक्ष कभी देखा नहीं है, उस मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी आगम है। सीढ़ी पर चढ़े उसे मोक्ष हुए बिना रहे नहीं, वीतराग की वाणी बिना सम्यग्ज्ञान होता नहीं; इसलिए उस परमागम को मोक्ष की प्रथम सीढ़ी कहा है।

वह परमागम काम-भोग से उत्पन्न होनेवाले अप्रशस्त रागरूप अँगारों से दाह्यसमान होते हुए समस्त दीन जनों के महाक्लेश को नाश करने में समर्थ सजल मेघ हैं। अँगारों का अर्थ क्या? किसी भी परपदार्थ के कर्ता-भोक्तापने का भाव वह अँगारा है—उसमें अज्ञानी दीन जन

अनादि से जल रहे हैं। विषय भोगों में सुख नहीं है, वे तो अँगारे हैं। उनमें तो महाक्लेश है। पर की इच्छा या पर के भोगने की इच्छा करके अज्ञानीजन दीन होकर अप्रशस्त रागरूप अँगारों में जल रहे हैं। जैसे शकरकंद अग्नि में भूनी जाती है, उसीप्रकार अज्ञानी जीव काम-वासना में दीन बनकर भुन रहे हैं। जिसको चैतन्य का भान नहीं, वह रागरूपी अँगारों में भुन रहा है। ऐसे जीवों को महाक्लेश का नाश करने के लिये वीतराग की वाणी सजल मेघ समान है।

अरे जीव! शांत हो!! शांत हो!! पर से उदासीन होकर चैतन्य में झुक।—ऐसा बतलाकर वीतराग की वाणी महाक्लेश का नाश करने के लिये जलपूर्ण बादलों के समान है; जगत के क्लेश का नाश करने के लिये वीतराग की वाणी कभी निष्फल नहीं जाती; जो जीव उस वाणी को झेल ले उसके समस्त दुःख विलीन हो जाते हैं—इसप्रकार यहाँ उपादान-निमित्त की संधि बतलायी है।

जिसप्रकार कहीं आग लग जाये तो अग्निशामक यंत्र उसे बुझा देता है; उसीप्रकार दीनजनों के महाक्लेश को वीतराग की वाणी दूर कर देती है। बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी चैतन्य के अभाव से काम-भोग के अप्रशस्त रागरूप अँगारों में दीन होकर दहक रहे हैं। परंतु जो जीव वीतराग की वाणी का आश्रय करते हैं, उन जीवों के महाक्लेश को वह वाणी नाश कर देती है। इस तरह क्लेश के नाश करने में भगवान की वाणी जलपूर्ण मेघ के समान हैं।

ऐसी भगवान की वाणी को परमागम कहते हैं। उस परमागम में सात तत्त्व तथा नव पदार्थ का सच्चा स्वरूप कहा है। देखो! जगत में सात तत्त्व हैं, इससे विरुद्ध कोई एक ही तत्त्व माने अथवा पच्चीस माने तो यथार्थ नहीं है। सात तत्त्वों में अथवा नव पदार्थों में संपूर्ण जगत आ जाता है, सर्वज्ञ की वाणी उन सबका कथन करनेवाली है। ऐसे सर्वज्ञ को, उनकी वाणी को और उसके कहे हुए तत्त्वों को पहचानना चाहिये—क्योंकि उनकी पहचान के बिना धर्म होता नहीं।

आचर्य समंतभद्रस्वामी ने भी रत्नकरण्डश्रावकाचार के श्लोक ४२ में इसीप्रकार कहा है —

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥४२॥

जो न्यूनतारहित, अधिकता रहित, विपरीतता रहित यथातथ्य वस्तुस्वरूप को नि:संदेहरूप से जानता है, उसे आगमवेत्ता ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) कहते हैं।

जैसा वस्तुस्वरूप है – उससे कम न कहे, अधिक न कहे, तथा विपरीत भी न कहे; ऐसी तो वीतराग की वाणी है और उस आगम के ज्ञाता वस्तुस्वरूप को हीनाधिक एवं विपरीतता रहित जानते हैं, उसी को आगमवेत्ता ज्ञान कहते हैं। आगम और ज्ञान—यह दोनों हीनता, अधिकता तथा विपरीतता रहित हैं।

सम्यग्ज्ञान का माप बाहर की सभा के अनुसार नहीं है। लाखों मनुष्यों की सभा में उच्च स्वर से भाषण दे इसलिये वह ज्ञानी है, इसप्रकार ज्ञानी का माप नहीं है; अपितु वस्तुस्वरूप जैसा वीतराग की वाणी में आया है वैसा ही जो ज्ञान जानता है, उसी को आगमज्ञाता सम्यग्ज्ञान कहते हैं। सैकड़ों, हजारों अवधान करे; किंतु वह सम्यग्ज्ञान का लक्षण नहीं है। चैतन्यस्वभाव तथा दूसरे तत्त्व जिसप्रकार से आगम में सर्वज्ञ ने कहे हैं, उसीप्रकार हीनाधिकता एवं विपरीतता रहित जो जानता है, उसी को ज्ञानीजन सम्यग्ज्ञान कहते हैं। आगम की पहचान तथा उस आगम से होनेवाला ज्ञान कैसा होता है, उसकी भी पहचान करवायी; फिर वस्तुस्वरूप में संदेह न हो, नि:संदेहपने वस्तुस्वरूप को जाने; वही सम्यग्ज्ञान है।

यह नियमसार है। नियम अर्थात् मोक्षमार्ग, उसमें 'सार' शब्द लगाया अर्थात् शुद्ध निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग वह नियमसार है। उसमें निश्चय श्रद्धा-ज्ञान के साथ जो देव-गुरु-शास्त्र का शुभराग होता है, उसे व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं।

अरहंतदेव, परमागम और तत्त्वों की श्रद्धा वह व्यवहार सम्यक्त्व है – उसी का यह वर्णन चल रहा है। उसमें अरहंत देव अठारह दोष रहित और केवलज्ञानादि सहित होते हैं उनका वर्णन किया। उनकी वाणी वह आगम है, उसमें जीवादि तत्त्वों का कथन किया गया है। ऐसे आप्त, आगम और तत्त्वों की श्रद्धा वह शुभराग है—व्यवहार सम्यक्त्व है। प्रथम इसप्रकार का शुभराग आये बिना रहता नहीं। कुदेवादि की मान्यता में तीव्र कषाय है, ऐसी मान्यतावाले तीव्र कषायी जीवों में तो आत्मा की श्रद्धा की पात्रता भी नहीं है।

वीतराग सर्वज्ञदेव के अतिरिक्त अन्य कुदेवादिक सच्चे देव नहीं हैं। ऐसे आप्त, आगम और तत्त्वश्रद्धा को व्यवहार सम्यक्त्व कब कहा जाये? कि जब रागरहित चैतन्यस्वभाव का

अवलंबन लेकर उसकी श्रद्धा करे तब सर्वज्ञ की श्रद्धा को व्यवहार श्रद्धा कहा जाये। निश्चय श्रद्धा में तो अकेले चैतन्य का ही अवलंबन है, परंतु निचली दशा की उस भूमिका में साथ ही देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का शुभराग भी होता है; उसे व्यवहार श्रद्धा कहते हैं।

सर्वज्ञ परमात्मा कैसे होते हैं, वह परीक्षणीय है। सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य कुदेवादिक सच्चे नहीं, उनकी वाणी सच्ची नहीं, और उनके द्वारा प्ररूपित तत्त्व भी सच्चे नहीं। प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है, परिपूर्ण है, चैतन्यसूर्य है, उसमें सर्वज्ञता प्रकट होने की शक्ति भरी है,—ऐसा कथन करनेवाला सर्वज्ञ ही होता है, अन्य कोई ऐसा कथन नहीं करता।

वीतरागदेव की श्रद्धा करने में जो राग है, वह व्यवहार है-वह 'नियमसार' नहीं है। नियमसार तो चैतन्य कारणपरमात्मा की निश्चय श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र ही है। देव-गुरु-शास्त्र की व्यवहार श्रद्धा भी वास्तव में नियमसार नहीं है, तो फिर कुदेवादिक की श्रद्धा तो कहाँ रही?

देव-गुरु-शास्त्र से भिन्न स्वभाव जानकर उसकी श्रद्धा-ज्ञान करे तो उस राग को व्यवहार श्रद्धा कहते हैं; किंतु यदि उस शुभराग से धर्म माने तब तो वह व्यवहार भी नहीं। एक समय में परिपूर्ण चैतन्य भगवान स्वयं है, इसके स्वीकारपूर्वक बीच में देव-शास्त्र-गुरु का शुभराग आवे परंतु उसको धर्म न माने तो उसे व्यवहार कहते हैं। जब राग से धर्म न माने तभी राग को व्यवहार कहा जाए - यह शर्त है। मोक्षमार्ग तो चैतन्य स्वभाव के अवलंबन से ही है। 'एक होय त्रण काल में परमारथ नो पंथ'—त्रिकाल में परमार्थ का पंथ तो एक ही होता है, बीच में व्यवहार आता है, वह परमार्थ से मोक्षमार्ग नहीं है। 'नियमसार' कहकर शुद्ध रत्नत्रय बतलाया है, तथा यह भी बतलाया है कि व्यवहार रत्नत्रय वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है।

पहले सर्वज्ञदेव कैसे होते हैं वह बतलाया, पश्चात् उन सर्वज्ञदेव की वाणीरूप परमागम कैसा होता है, वह भी बतलाया। अब श्लोक द्वारा उस जिनागम को नमस्कार करते हैं—

ललितललितं शुद्धं निर्वाणकारणकारणं,
निखिल भविनामेतत्कर्णामृतं जिन सद्वचः।
भवपरिभवारण्यज्वालित्विषां प्रशमे जलं,
प्रतिदिनमहं वन्दे वन्द्यं सदा जिनयोगिभिः॥

जो जिनवचन ललित में ललित हैं, शुद्ध हैं, निर्वाण के कारण का कारण हैं, सर्व भव्यों

के कर्णों को अमृत हैं, भवरूपी अरण्य के उग्र दावानल को शमन करने में जल हैं और जो जैन योगियों से सदा वन्द्य हैं—ऐसे जिन भगवान के सद्वचनों को (सम्यक् जिनागम को) मैं प्रतिदिन वंदना करता हूँ।

सर्वज्ञ परमात्मदशा प्रकट होने पर ओष्ठ (होंठ) व जिह्वा के हलन-चलन बिना ही दिव्यध्वनि छूटती है। वह वाणी क्रमवाली नहीं होती, तथा सहज और अतिशय प्रसन्नता उत्पादक एवं मनोहर होती है, सर्व जीव निज-निज भाषा में उसे समझ लेते हैं। वह वाणी शुद्ध है अर्थात् रागरहित निरपेक्ष स्वभाव के आश्रय से ही कल्याण बतलानेवाली है, किंतु राग से कल्याण नहीं बतलाती। भगवान शुद्ध हैं और उनकी वाणी भी शुद्ध है। जो वाणी राग का पोषण करे वह वाणी शुद्ध नहीं कही जा सकती।

वह वाणी निर्वाण के कारण का कारण है। अर्थात् महा आनंद की प्राप्तिरूप मोक्ष का कारण निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग है, और उस मोक्षमार्ग का कारण सर्वज्ञदेव की वाणी है। भगवान ने दिव्यध्वनि में जो कुछ कथन किया वही संतों ने अनुभव किया और उसी की रचना शास्त्ररूप में हुई—वे ही शास्त्र मोक्षमार्ग के कारण हैं।

वह वाणी सर्व भव्य जीवों के कर्णों के लिये अमृत है। अभव्य जीव भगवान की वाणी सुनने के लिये अयोग्य हैं। भव्यों की संख्या से अभव्य जीव अनंतवें भाग हैं, उन अभव्य जीवों की यहाँ बात नहीं है—यहाँ तो भव्य जीवों की ही बात है। उन भव्य जीवों को भगवान की वाणी कहती है कि—हे जीव! तू परमानंद मूर्ति भगवान है, क्षणिक विकार का शरण छोड़ और स्वभाव का शरण ले, अपने स्वभाव के शरण से तू भगवान बन जावेगा—इसप्रकार भगवान की वाणी भव्य जीवों के कानों में अमृत उँडेलती है। श्रोताओं को चैतनय की बात अमृत जैसी लगती है, इसलिये वीतराग की वाणी भी अमृत है।

मेरे द्वारा तुम्हारा कल्याण होगा ऐसा भगवान नहीं कहते, किंतु तुम्हारे स्वभाव से ही तुम्हारा कल्याण होगा; इसप्रकार भगवान स्वाश्रय बतलाकर अमृत की ध्वनि भव्य जीवों के कानों में डालते हैं। अमृत अर्थात् मरणरहित चैतन्य आत्मा, उसे भगवान की वाणी बतलाती है—अतः वह अमृत है।

जिस जीव ने निश्चय मोक्षमार्ग प्रकट किया उसको भगवान की वाणी कारण कही

जाती है। कार्य हो तभी तो उसका कारण कहा जाये न? मोक्षमार्ग प्रकट करे उसी को भगवान की वाणी निमित्त कही जाती है। आत्मा को समझे उसके कान में भगवान की वाणी ने अमृत उँडेला—ऐसा कहा जाता है।

अज्ञानभाव से भवरूपी भट्टी में जीव जल रहा है, उसको शांत करने के लिये भगवान की वाणी जल के समान है। अरे जीव! तू शांत हो और अपने चैतन्य की शरण ले, तुझे अपने चैतन्य की शरण में ही शांति होगी। इस तरह चैतन्य की शरण करवाकर भगवान की वाणी भव-भव के दावानल को शांत करती है अर्थात् भव की नाशक है। अरे जीव! भव का भाव तेरा स्वरूप नहीं है, भवरहित तेरा स्वभाव-भाव है। इस भाँति चैतन्य स्वभाव बतलाकर भगवान की वाणी भव-भव के उग्र दावानल को अत्यंत शांत करनेवाली है।

वह भगवान की वाणी जैन योगियों के द्वारा वंद्य है। स्वभाव का आश्रय करके राग को जिसने जीत लिया है और स्वभाव में जुड़ानरूप राग जिसने किया है-ऐसे जीव को जैन योगी कहते हैं। ऐसे जैन योगियों से जिनवाणी सदा वन्द्य है।

परिपूर्ण अखंडानंदी आत्मा है-उसमें अनंत गुण हैं, उसकी पर्याय में क्षणिक विकार है, उस विकार का स्वभाव के आश्रय से अभाव होने पर परमात्मदशा प्रकट होती है-ऐसा बतलानेवाली जिनवाणी सदा जैन योगियों द्वारा वंदनीय है।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि उन जिन भगवान के सम्यक् वचनों की मैं प्रतिदिन वंदना करता हूँ।

इसप्रकार सर्वज्ञ की वाणीरूप आगम का स्वरूप कहकर उसे नमस्कार किया।

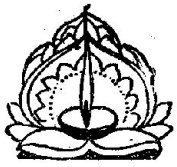

द्रव्यसंग्रह प्रवचन

वृहद्द्रव्यसंग्रह पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन सन् १९५२ में हुए थे। जिज्ञासु पाठकों के लाभार्थ उन्हें यहाँ क्रमशः दिया जा रहा है।

[गतांक से आगे]

अब त्रसस्थावरत्त्व को चौदह जीव समासों द्वारा बतलाते हैं —

समणा अमणा णेया पंचिंदिय णिम्मणा परे सव्वे।
बादरसुहमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य॥१२॥

पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी असंज्ञी ऐसे दो प्रकार के होते हैं। दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय ये सब मनरहित असंज्ञी हैं। एकेनिद्रय वादर और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के हैं, तथा यह कहे हुये सातों पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं। ऐसे चौदह जीवसमास हैं। वे सब पर्याप्त और अपर्याप्त जीव आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इन छह पर्याप्तिरूप स्वयं की वर्तमान योग्यता से होते हैं।

सर्व प्रकार के शुभ-अशुभ-विकल्प वह आस्रव है, बंध का कारण है। जिस भाव से सर्वार्थसिद्धि का भव-पर्याय मिले अथवा तीर्थंकर नामकर्म बाँधा जाये वह आस्रव है, बंध का कारण है।

यहाँ कहते हैं कि असंज्ञी मन रहित है, वह अवस्था बदलकर संज्ञी मन वाला क्यों हुआ? स्वयं की योग्यता से हुआ। जैसे पुद्गल की वर्तमान पर्याय में दूसरे पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय का अभाव है, अन्योन्याभाव है, और एक वस्तु में दूसरे द्रव्य का अत्यंत अभाव है; उसीप्रकार प्रत्येक आत्मा का निर्विकल्प शुद्ध परमात्मरूप है; उसमें कर्म, शरीर और सर्व शुभाशुभ विकार का अत्यंत अभाव है। भगवान आत्मा द्रव्यस्वभाव से सदा अविकारी है। विकार-उदयभाव वह पर्याय-अपेक्षा से जीव का स्वतत्त्व है, किंतु द्रव्यस्वभाव वह विकारी अंश से सर्वथा भिन्न है। महाव्रतादि शुभराग व्यवहार है, वह आत्म-स्वभाव के लिये व्यर्थ है। क्योंकि वह एकसमय का अरूपी विकार त्रिकाल द्रव्यस्वभाव में नहीं है, इसलिये वह अभूतार्थ है।

पुण्य-पाप के लक्षण द्वारा आत्मद्रव्य नहीं पहचाना जाता, पुण्य-पाप वह विकल्प जाल है। दान देने के शुभराग से तथा अनुकंपा से संसार-पार नहीं होता, किंतु पुण्य होता है। कोई ऐसा कहते हैं कि मेघकुमार ने हाथी के भव में खरगोश की दया पाली और इससे संसार पार किया, तो यह बात न्याय विरुद्ध है। क्योंकि शुद्ध सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) बिना संसार नहीं घटता। किसी भी प्रकार का शुभ-अशुभ भाव वह विकल्प जाल है, वह जीव का स्वरूप नहीं है, और किसी भी जीव को शुभ विकल्प जालों से मोक्षमार्गरूप धर्म होता नहीं है। मन द्वारा शुभाशुभ राग होता है, उस परावलंबी मनोदशा से छूटकर निर्विकल्प ज्ञायक मात्रस्वभाव से ही धर्म होता है।

यदि कोई जीव संयोग से सुख-दुःख मानता है, उसको असंयोगी स्वभाव की अरुचि-अश्रद्धा है और खंड-खंडरूप अंश की रुचि है; उसको निमित्ताधीन दृष्टि है। इससे विपरीत जो जीव एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक की कोई भी अवस्था में स्वयं की पर्याय की योग्यता से सुखी-दुःखी हैं ऐसा मानता है—उसको स्वतंत्र स्वभाव की रुचि है। विकारी अंश भी स्वयं की पर्याय का विभाव स्वभाव है—ऐसा जाने तो निर्मल स्वभाववान द्रव्य की दृष्टि हुये बिना नहीं रहती।

आचार्यदेव कहते हैं कि इस आत्मा की वर्तमान पर्याय हीन है, मन सहितपना (संज्ञी) अथवा मनरहितपना (असंज्ञी) है, अल्पज्ञपना भी है; वह संसारदशा है, रोग है, और यह बात ठीक है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि 'है' तो वह किससे है? और कैसे दूर हो? उसको उपाय करना चाहिये। जैसे वैद्य है वह रोगी को रोग, रोग का कारण, और निरोगता का उपाय समझाता है। उसीप्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि तेरी वर्तमान अल्पज्ञता से मनसहित जानता है, यह सब संसारी अवस्था (संसारीपना) है। स्वतंत्र ज्ञायकतत्त्व का विरोध करके तू संज्ञी और असंज्ञीपने की अवस्था को धारण करता है। मन के अवलंबन में रुककर-अटककर काम करता है, यह तेरी पराधीन दशा है। वह अशुद्धता तेरी स्वतंत्रता बतलाती है। पंचेन्द्रिय जीव सैनी तथा असैनी होते हैं। तिर्यंच में ही ये दो भेद होते हैं, सम्मूर्च्छन मनुष्य भी संज्ञी ही है। कोई कहता है कि असंज्ञी पंचेन्द्रिय नारकी में (नरकगति में) पर्याप्त न हो वहाँ तक वह असंज्ञी है। सनातन शाश्वत् सिद्धांत कहता है कि नरक में पैदा होने के लिये जानेवाला वह जीव मार्ग में भी

(विग्रहगति) संज्ञी है। यहाँ भी कहते हैं कि नारक (नारकी), मनुष्य तथा देव ये संज्ञी पंचेन्द्रिय ही होते हैं।

लोग संयोग से सुख-दु:ख मानते हैं, किंतु वह वस्तु का स्वरूप नहीं है। नारकी की अपेक्षा एकेन्द्रिय को अनंत गुण दु:ख है। ज्ञाता दृष्टा का विरोध कर ज्ञान सामर्थ्य (शक्ति) हार गया है, और चार इंद्रियों संबंधी ज्ञानरहित हुआ है; इसलिये एकेन्द्रिय जीव नारकी से महान दु:खी है। वनस्पति देखने में हरी सुंदर दिखती है, किंतु महती मूढ़ता (महान अज्ञान) और तीव्र कषाय वेदन से महान दु:खी है। वर्तमान पर्याय में ज्ञान अत्यंत अल्प हो गया है, वही महान दु:ख है। नारकियों में छेदन-भेदन अग्नि आदि का दु:ख नहीं, वृक्ष काटा जाता है, उसका उस जीव को दु:ख नहीं है, शरीर से रक्त चला जाये आदि संयोग से दु:ख नहीं है; किंतु असंयोगी ज्ञानस्वभाव के विरोधरूप संयोगी बुद्धि का ही दु:ख है। पर्याय व्यक्त (प्रत्यक्ष) बाह्य है, द्रव्य-गुण अप्रगट शक्तिरूप हैं। जिसको व्यक्त पर्याय की स्वतंत्रता की श्रद्धा है, वह जीव द्रव्य-गुण की स्वतंत्रता की दृष्टि कर नहीं सकता है। विभाव भी स्वतंत्र तेरे से, हीनता (अल्पता) भी तेरे से, और निर्मल विकास भी तेरे से है। ऐसे स्वतंत्र स्वभाव को देख।

मन की ओर के झुकाव में शुभाशुभ विकल्प है, वह स्वयं के स्वतंत्र अपराध से है। ऐसा न जाने—उसको मन, इंद्रिय और रागरहित एक ज्ञायक हूँ ऐसी श्रद्धा करने की सामर्थ्य नहीं है। बादर तथा सूक्ष्म एकेन्द्रियरूप अल्पदशा धारण की, तब उस जीव को आठ पंखुड़ियों के विकसित कमल के आकार जो द्रव्यमन है—उसका, और उसके अवलंबन से शिक्षा, वचन, उपदेश आदि को ग्रहण करनेवाला भावमनरूप ज्ञान का क्षयोपशम—इन दोनों का अभाव होता है; इससे वह असंज्ञी ही है।

संज्ञी और असंज्ञी पंचेन्द्रिय, दो, तीन, चार इंद्रियवाले विकलत्रय (अपूर्ण इंद्रियवाले) तथा बादर सूक्ष्म एकेन्द्रिय ये सात भेद हुये, उनके पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे कुल १४ भेद जीव के हुये।

तथा आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वास, भाषा तथा मन ये छह पर्याप्ति हैं। उनमें से एकेन्द्रिय के चार पर्याप्ति होती हैं, संज्ञी पंचेन्द्रिय के छह होती हैं, शेष जीवों के मनरहित पाँच पर्याप्ति होती हैं। ये सभी वर्तमान पर्याय की योग्यता अशुद्धनय से जीव का स्वतत्त्व है। आत्मा स्वभाव

से तो भगवान है; किंतु पर्याय में जड़ की ऋद्धि, अल्पज्ञता भी पर्याप्ति की उपाधि है—यह सभी पराधीनता की अवस्था बतलाती है।

अशुद्धनय से प्राण, पर्याप्ति, गुणस्थान, मार्गणा में जीव रहता है, प्रवर्तता है। शुद्धनय से एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक की सभी अवस्था में सभी आत्मा भगवान है, प्रभु है। चौदह ब्रह्माण्ड (तीन लोक) में सभी आत्मायें चिदानंद अमृतलता के फल हैं; अनंतगुण का अखंड पिण्ड है; द्रव्यस्वभाव की अधिकता, प्रभुता है; और वर्तमान पर्याय की हीनता, तुच्छता है—ऐसा जानकर अति दुर्लभ अवसर में इस शुद्धात्मा को समझने का शुभ प्रसंग जानकर अशरीरी सिद्धस्वरूप जानो।

शरीर, मन, भाषा, पर्याप्ति, शुभ विकल्प से भी मैं पृथक् हूँ—ऐसा जानकर एक शुद्ध परमात्मस्वरूप को ग्रहण कर, यही एक शरण है। कोई परद्रव्य या परदेवादि तुझे शरणरूप नहीं हैं; जो तुझे पराधीन दीन-हीन बतावे वह सुदेव, सुगुरु नहीं है। यहाँ तो प्रत्येक गाथा में स्वतंत्रता की दृष्टि करायी, पर से भिन्न बताया, स्वाधीनसुख का अक्षय भंडार तू है, इसका अनुभव करने की बात कही है। कोई संयोगी वस्तु इष्ट अनिष्ट नहीं है। मोटा कपड़ा किसी को किसी समय अच्छा लगता है और फिर अच्छा नहीं मानता है। बरसात किस को ठीक लगती है और किसी को ठीक नहीं लगती है। लेकिन कोई परवस्तु इष्ट अथवा अनिष्ट नहीं है। पूर्णरूपेण शुद्ध आत्मा, वह इष्ट है; और आत्मा की अशुद्धपर्याय अनिष्ट है। ऐसा भान करके पर से भिन्न स्वयं का शुद्ध आत्मतत्त्व है; वही निरंतर ग्रहण करनेयोग्य है।

अब शुद्ध पारिणामिक परमभाव का ग्राहक (जाननेवाला) जो शुद्ध द्रव्यार्थिकनय है; इस अपेक्षा से सर्व आत्मा सर्व संसारी जीव हैं, वे शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव के धारक हैं। सभी आत्मायें नित्य केवलज्ञान परमानंद के कंद हैं। शक्तिरूप से सतत् पूर्ण शुद्ध स्वभाव से लबालब (पूर्ण) भरे हुये हैं। उदय, क्षयोपशमादिभाव में निमित्त की अपेक्षा है और क्षायिकभाव में निमित्त के अभाव की अपेक्षा है। दोनों अपेक्षारहित, त्रिकाल निरपेक्ष शुद्ध चिदानंद द्रव्यस्वभाव, वह जीवतत्त्व (वस्तु) है। संसार वह उदयभाव है; उपशम सम्यक्त्व और उपशमचारित्र, वह नवीन पर्याय अनित्य है; वह भी जीवद्रव्य नहीं है। वह निर्मल पर्याय होने पर भी उसको गौण करके असली (शुद्ध) पूर्णस्वभाव की दृष्टि करना, यह अपूर्व और सुखी होने का उपाय है।

श्रीमद् राजचंद्रजी कहते हैं—लोगों ने मिश्री के नारियल (श्रीफल) की खूब प्रशंसा की, खूब गीत गाये, लेकिन यहाँ तो सारा नारियल अमृत का ही है। सभी आत्मायें पूर्ण अमृत आनंद का अविनाशी नारियल हैं।

त्रिकाल सामान्य शुद्ध ध्रुवस्वभाव को ग्रहण करने का जिसका प्रयोजन है, ऐसी शुद्ध दृष्टि से देखें तो संसारी सभी जीव शुद्ध, बुद्ध एकस्वभाव के धारक प्रभु हैं। निगोद के जीव जो कि अभी तक कभी दो इन्द्रिय नहीं हुए हैं, वे भी सभी पूर्ण परमात्मशक्ति के भंडार हैं। वस्तु स्वभाव तो सदा ऐसा है, तो भी वर्तमान भेद भंग (नयापेक्षा) से अवस्था को देखो तो १४ मार्गणास्थान तथा १४ गुणस्थान सहित है। यहाँ व्यवहारनय से नहीं कहा, क्योंकि स्वयं के कारण से पर्याय में भूले हुए जीव को अनेक प्रकार से अशुद्धता होती है। संसार का व्यय और मोक्ष की उत्पत्ति यह भी अशुद्धनय का विषय है। कारण कि वह भेद है, और उस भेद पर से भी लक्ष्य छुड़ाना है। जीव है, वह शुद्ध पारिणामिक भाव से सदा शुद्ध है, और अशुद्धनय से पर्याय में अशुद्ध है। जो शुद्ध है वही अशुद्ध है, यह सुनते ही अज्ञानी को आश्चर्य (अपूर्वता) लगता है। लेकिन जो द्रव्य स्वभाव से शुद्ध है, वही पर्याय में अशुद्ध है।

कोई कहे लीला रे अलख-अलख तणी रे, लख पूरे मन आस।
दोष रहित ने लीला न विघटे रे, लीला दोष विलास॥

कोई ईश्वर को जगत की सृष्टि का कर्ता मानता है, लेकिन वह तो दोष का विलास है। किंतु संसार में जितने जीव हैं, वे स्वयं के स्वभाव से पूर्ण शुद्ध प्रभु होने पर भी स्वयं स्वभाव से भूले हैं। वह स्वयं की पर्याय का दोषरूप विलास है, उसका कर्ता अशुद्ध निश्चयनय से जीव है। कोई ईश्वर कर्म वगैरह कराये अथवा कोई देव, गुरु तार दे (कल्याण कर दे) ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है।

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहिं हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया॥१३॥

चौदहवें गुणस्थान तक संसारस्थ जीव का उदयभाव, वह जीव का स्वतत्त्व है; वह किसी अन्य से नहीं है। संसारी जीव अशुद्धनय से १४ मार्गणास्थानों से तथा १४ गुणस्थानों से चौदह-चौदह प्रकार के होते हैं, और शुद्धनय से देखो तो सर्व संसारी जीव शुद्ध ही हैं।

षट्खंडागम में धवल के ९३वें सूत्र में 'संजद' पद का जो झगड़ा है, उसका स्पष्ट खुलासा है। आचार्य यहाँ मूल गाथा में कहते हैं कि मार्गणा, गुणस्थान वह अशुद्धनय से जीव का स्वतत्त्व है।

श्री नेमीचंद्र सिद्धांतदेव इस भावमार्गणा को व्यवहारनय से नहीं कहते किंतु अशुद्धनय से कहते हैं, इससे मार्गणा भावअपेक्षा से ही है। कुछ लोग धवलशास्त्र में से 'संजद' शब्द निकालने की कहते हैं। लेकिन इस न्याय से तो नहीं निकालना चाहिये। भाव मार्गणा होने से 'संजद' पद रहना चाहिये। गोम्मटसार, धवल और द्रव्यसंग्रह से एक ही बात है कि मार्गणा भावअपेक्षा से है।

भगवान सर्वज्ञदेव ने त्रिकाली जीवस्वभाव और उसकी पर्याय की प्रत्येक समय की योग्यता स्वतंत्र देखी है, उसका यह कथन है। जीव में चौदह गुणस्थान तथा चौदह मार्गणारूप परिणमन होता है। गुणस्थान और मार्गणास्थान की पर्यायरूप जीव स्वयं ही स्वयं की योग्यता से होता है। किसी पर के कारण से वह पर्याय नहीं होती। विचित्र (अनेकविध) पर्यायें होती हैं, वह भी उसका ही स्वभाव है। त्रस-स्थावर वगैरह भेदरूप जो चौदह गुणस्थान कहे वह भी जीव की पर्याय की वैसी योग्यता है। मिथ्यात्व से लगाकर अयोग गुणस्थान तक ही संसारी जीव की जितनी पर्यायें हैं, वे सभी जीव की योग्यता से हैं, और वह अशुद्धनय का विषय है। देखो, वह जीव का ही अशुद्ध भाव है, इसलिये उसको अशुद्धनय का विषय कहा है।

जीव की स्वतंत्रता द्वारा ही गुणस्थान और मार्गणास्थान होते हैं, किंतु जीव को संसार है, वह अशुद्धनय से है। शुद्धनय से तो सभी जीव शुद्ध हैं। चाहे वह गुणस्थान हो अथवा चाहे वह मार्गणास्थान हो, किंतु उसी समय अंतर (चैतन्य) के शुद्धस्वरूप की दृष्टि से देखें तो सभी जीव शुद्ध एकरूप ज्ञायकस्वभावी हैं। संसार पर्याय के जितने भेद हैं वे सभी अशुद्धनय से ही हैं। शुद्ध चिदानंद स्वभाव की दृष्टि से देखें तो सभी जीव शुद्ध हैं। पर्याय में विकार के समय में भी शुद्धनय से तो आत्मा शुद्ध एकरूप है। शुद्धनय से आत्मा कभी भी विकाररूप से हुआ ही नहीं है। एक सामान्य जन को मनुष्यगति, कुमति, कुश्रुत ज्ञान, मिथ्यात्वदशा है, और उसी समय एक मुनि ध्यान में लीन होकर के केवलज्ञान प्रगट करते हैं, इसप्रकार पर्याय की योग्यता पृथक्-पृथक् है। लेकिन उसी समय यदि शुद्धनय से देखो तो सब जीव एकरूप शुद्ध स्वभाव

के पिंड हैं। यहाँ केवली और मिथ्यादृष्टि ऐसे भेद शुद्ध निश्चयनय के विषय में नहीं हैं। शुद्धनय से तो प्रत्येक आत्मा सहज स्वभावरूप एक ज्ञायक भाव है। शुद्धनय से देखने से सारा जगत शुद्ध जीवों से भरा हुआ है, और अशुद्धनय से देखने से संसारावस्था की अनेक प्रकार की योग्यता भी जीव की स्वयं की है।

संसारावस्था में जीव को गुणस्थान होते हैं। उनके नाम १. मिथ्यात्व, २. सासादन, ३. मिश्र, ४. अविरतसम्यक्त्व, ५. देशविरत, ६. प्रमत्तसंयत, ७. अप्रमत्तसंयत, ८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिकरण, १०. सूक्ष्मसांपराय, ११. उपशांतमोह, १२. क्षीणमोह, १३. सयोगी केवलीजिन, १४. अयोगी केवलीजिन।

अब उन चौदह गुणस्थानों का स्वरूप कहते हैं —

(१) मिथ्यात्व गुणस्थान का स्वरूप

शुद्धनय से जीव एकरूप शुद्धस्वभावी है, लेकिन उसको भूलकर अनादि से संसार में भ्रमण करता है। उसमें (जीव में) अनादि से मिथ्यात्व गुणस्थान है। वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा ने जो जीवादि तत्त्व कहे हैं, उसका जिसको यथार्थ श्रद्धान नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है। भगवान ने जो तत्त्व कहे हैं, उनमें शुद्ध केवलज्ञान और केवलदर्शनस्वरूप अखंड प्रत्यक्ष प्रतिभासरूप—ऐसा निज परमात्मा वह मुख्य है। ऐसे स्वयं शुद्ध जीव वगैरह छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, तथा सात तत्त्व वगैरह का यथार्थ श्रद्धान जिस जीव को नहीं है, उसको प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान है। यह भी जीव की स्वयं की पर्याय की योग्यता है।

सर्वज्ञ भगवान ने कालद्रव्य सहित छह द्रव्य कहे हैं, वे मूलद्रव्य हैं। उनका श्रद्धान करे और काल को उपचरित कहे, तो सर्वज्ञ द्वारा कथित छह द्रव्यों की उसको श्रद्धा नहीं है। ऐसे जीव मिथ्यात्व गुणस्थानवाले हैं, वह उनकी पर्याय है। देखिये, मिथ्यात्वकर्म का उदय हो उसको मिथ्यात्व गुणस्थान है, ऐसा यहाँ नहीं कहा। किंतु सर्वज्ञदेव द्वारा कथित शुद्ध जीवादि तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा जो नहीं करता, उसको मिथ्यात्व गुणस्थान है—इसप्रकार कहकर यहाँ अशुद्ध निश्चयनय का विषय कहा है।

छह द्रव्यों में जीव-अजीव पृथक्-पृथक् हैं। जीव के लिये शरीर की क्रिया होती है,

अथवा शरीर की क्रिया से जीव को धर्म होता है—ऐसा माने उसने छह द्रव्यों को स्वतंत्र नहीं माना है। सात तत्त्वों को भी स्वतंत्र नहीं माना है। इसलिये यहाँ कहा है कि सर्वज्ञदेव द्वारा कथित छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थों को यथार्थ जानना। किसप्रकार जानें? कि देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता और लोकमूढ़ता—ये तीन मूढ़ता दूर कर यथार्थ (सत्य) जानना। ऐसी मूढ़ता दूर करके यथार्थ तत्त्वों को जिस जीव ने जाना नहीं है, उस जीव को प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान होता है।

लोक में द्रौपदी जैसी सती के पाँच पति मानते हैं, उसको जो माने उस जीव को लोकमूढ़ता है। द्रौपदी के पाँच पति थे, यह बात बिल्कुल झूठी है। भगवान आहार करते हैं, मुनि सवस्त्र होते हैं—ऐसी मान्यता देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता है। तथा जिन शास्त्रों में ऐसा कथन किया हो उन शास्त्रों को मानना, वह शास्त्र मूढ़ता है। ऐसी मूढ़ता छोड़कर जीव ने सर्वज्ञ द्वारा कथित तत्त्वों को कभी भी यथार्थ जाना नहीं है, इसलिये उसको अनादि से मिथ्यात्व गुणस्थान है।

और फिर पच्चीस दोषरहित जानने को कहा है। सत्यार्थ देव-गुरु-शास्त्र कैसे हों? यह तो जाने नहीं-और कुदेवादि को माने तथा उनके माननेवालों की प्रशंसा करे, उसको छह अनायतन के सेवन का दोष लगता है। और फिर वीतरागी मार्ग में शंका करे, पुण्य के फल की वांछा करे, धर्मात्मा के प्रति वत्सल भाव नहीं रखे, धर्म की प्रभावना का विचार (भाव) नहीं करे; इत्यादि आठ प्रकार के सम्यक्त्व के दोष (शंका आदि) हैं। तथा जातिमद वगैरह आठ प्रकार के मद हैं। इस प्रकार ८ मद, शंकादि ८ दोष, ६ अनायतन, ३ मूढ़ता—ऐसे पच्चीस दोष से रहित होकर, नयापेक्षा वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा कथित तत्त्व को जीव जानता नहीं है, उसको मिथ्यात्व नाम का पहला गुणस्थान है।

कुदेवादि तो मिथ्यात्व के निमित्त हैं। उनकी मान्यता को जो नहीं छोड़ता है, वह जीव मिथ्यात्व का सेवन करनेवाला है। यह पहिला गुणस्थान है। [क्रमशः]

ज्ञान-गोष्ठी

सायंकालीन तत्त्वचर्चा के समय विभिन्न मुमुक्षुओं द्वारा पूज्य स्वामीजी से किये गये प्रश्न और स्वामीजी द्वारा दिये गये उत्तर।

प्रश्न– ज्ञानी दु:ख का ज्ञायक है या वेदक है ?

उत्तर– ज्ञानी को दु:ख जानने में भी आता है और वेदन भी होता है। जैसे आनंद का वेदन है; उसीप्रकार जितना दु:ख है उतना दु:ख का भी वेदन है।

प्रश्न– आत्मा के स्वभाव में दु:ख है क्या ?

उत्तर– नरक के नारकी को स्वर्ग के सुख की गंध नहीं, स्वर्ग के देव को नरक के दु:ख की गंध नहीं, राग में धर्म की गंध नहीं, परमाणु में पीड़ा की गंध नहीं, सूर्य में अंधकार की गंध नहीं, और सुख-स्वभाव में संसार-दु:ख की गंध नहीं।

प्रश्न– आम का स्वाद आत्मा को आता है; उसीप्रकार आत्मा के अनुभव का स्वाद कैसा होता है ?

उत्तर– आम तो जड़ है, अत: उस जड़ का स्वाद आत्मा को आता नहीं। आम के मीठे रस का ज्ञान होता है और आम अच्छा है ऐसी ममता के राग का दु:खरूप स्वाद आत्मा को आता है। आत्मा के अनुभव का जो अतीन्द्रिय आनंद आता है, वह वचन अगोचर है; अनुभवगम्य है।

अनुभव चिंतामणि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोक्ष कौ, अनुभव मोक्षस्वरूप॥

प्रश्न– क्या शुद्ध और अशुद्धि एक पर्याय में साथ ही साथ है ?

उत्तर– हाँ! साधक को शुद्धि और अशुद्धि एक ही पर्याय में साथ होने पर भी अशुद्धता का जो ज्ञान हुआ है, वह अपना है, अशुद्धता अपनी नहीं।

प्रश्न– शुभभाव में गर्भित शुद्धता कही गयी है; उसीप्रकार मिथ्याश्रद्धान में गर्भित शुद्धता है क्या ?

उत्तर– नहीं ! मिथ्याश्रद्धानयुक्त पर्याय विपरीत ही है, उसमें गर्भित शुद्धता नहीं है। ज्ञान में निर्मलता विशेष है, ज्ञान के अंश को निर्मल कहा है और वह वृद्धिंगत होकर केवलज्ञान होता है। तथा शुभ में गर्भित शुद्धता का अंश कहा है, किंतु ग्रंथिभेद (सम्यग्दर्शन) होने के बाद ही वह शुद्धता काम करती है।

प्रश्न– मति-श्रुतज्ञानी आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं-ऐसा कहा, किंतु तत्त्वार्थसूत्र में तो मति-श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा है ?

उत्तर– प्रत्यक्ष जानना तो आत्मा का स्वभाव है। अनुभव में सम्यक्त्वी आत्मा को (अनुभव की अपेक्षा से) प्रत्यक्ष जानता है, जानने की अपेक्षा परोक्ष है।

प्रश्न– मिथ्यादृष्टि के ज्ञान में द्रव्यस्वभाव भासित नहीं होता तो उसे क्या द्रव्य का अभाव है ?

उत्तर– मिथ्यादृष्टि को द्रव्य भासित नहीं होता इसलिये उसके ज्ञान में द्रव्य अभावरूप है। ज्ञानी को तो पर का द्रव्य भी भासित होता है, इसलिये अज्ञानी के द्रव्य को ज्ञानी भगवानस्वरूप देखता है। किंतु अज्ञानी को तो द्रव्य दिखायी ही नहीं पड़ता, अतः उसकी दृष्टि में तो द्रव्य अभावरूप ही है।

प्रश्न– यदि पर्याय द्रव्य का स्पर्श ही नहीं करती तो आनंद किसप्रकार आता है ?

उत्तर– पर्याय द्वारा द्रव्य का स्पर्श न किये जाने पर भी संपूर्ण द्रव्य का ज्ञान पर्याय में आ जाता है तथापि द्रव्य पर्याय में नहीं आता। धर्मी और धर्म दो वस्तुयें हैं, पर्याय व्यक्त है और ध्रुववस्तु अव्यक्त है। यद्यपि यह व्यक्त और अव्यक्त दोनों धर्म एक ही वस्तु के हैं तो भी व्यक्त अव्यक्त को स्पर्श नहीं करता; परंतु पर्याय का लक्ष द्रव्यसन्मुख है इसलिये पर्याय आनंदरूप परिणमन करती है।

प्रश्न– संयमलब्धिस्थान को पुद्गल का परिणाम कहा है तो वहाँ सराग संयम लेना या वीतराग संयम ?

उत्तर– संयम सराग होता नहीं; वीतरागी संयम है, शुद्ध पर्याय है-परंतु दो भेद पड़ते हैं और

उनके ऊपर लक्ष देने से राग होता है इसलिये उसे पुद्गल का परिणाम कहा है। जीव तो एकरूप अखंड है; उसमें भेद करने पर जितने परिणाम जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान के हों वे सब पुद्गल की रचना हैं, जीव की नहीं–ऐसा निस्संदेह जानो।

प्रश्न– पुण्य–पाप के भाव को जड़ क्यों कहते हैं ?

उत्तर– पुण्य–पाप के भाव में चेतन नहीं इसलिये उसे जड़ कहते हैं, पुण्य–पाप वह स्पर्श–रस–गंधवाला जड़ नहीं किंतु उसमें जाननापना नहीं। समयसार में जीव–अजीव अधिकार में उसको अजीव कहा है तथा कर्ता–कर्म अधिकार में जड़ कहा है। चूँकि पुण्य–पाप भाव में ज्ञान नहीं है इस अपेक्षा से उसको जड़ कहा गया है।

प्रश्न– पैसा–वैभवादि में आकर्षण शक्ति बहुत प्रतीत होती है ?

उत्तर– पैसा–वैभवादि में आकर्षण कुछ है ही नहीं, यह तो जीव के मोह की मूर्खता है–पागलपन है। पर में मोह करके अपना भव बिगाड़कर चौरासी के भ्रमण में चला जाता है। ●●

❀✻✿✻❀ ❀✻✿✻❀ ❀✻✿✻❀

समाचार दर्शन

सोनगढ़ – पूज्य स्वामीजी सुख–शांति में विराजमान हैं। प्रातः 'समयसार कलश टीका' पर तथा मध्याह्न 'समयसार' पर मर्मस्पर्शी प्रवचन चल रहे हैं।

सोनगढ़ पधारनेवाले आत्मार्थी बंधु ध्यान दें कि पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी दिनांक २–३–७८ से तीन माह के लिये प्रवास पर रहेंगे। सोनगढ़ में आपका वापिस पदार्पण दिनांक १–६–७८ के लगभग होगा।

युवकों में अभूतपूर्व जागृति
स्थान–स्थान पर युवा मंडलों की स्थापना

विदिशा (म०प्र०) – यहाँ पंडित ज्ञानचंदजी की अध्यक्षता में विदिशा मुमुक्षु मंडल के अंतर्गत श्री दिगम्बर जैन वीतराग–विज्ञान युवा मंडल की स्थापना की गयी। श्री पंडित

ज्ञानचंदजी तथा पंडित जवाहरलालजी इस संस्था के संरक्षक तथा डॉ० महेन्द्रकुमारजी अध्यक्ष चुने गये। कार्यकारिणी के सभी सदस्यों ने देवपूजा, स्वाध्याय, रात्रिभोजन-त्याग एवं अभक्ष्यभक्षण-त्याग की प्रतिज्ञा ली। किले अंदर के मंदिर में नियमित स्वाध्याय में प्रवचन के लिये पंडित नंदकिशोरजी गोयल, पंडित शिखरचंदजी एवं पंडित लालजीरामजी का चयन किया गया।

— महेन्द्रकुमार जैन

तलोद (गुजरात) - श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन युवक संघ का गठन किया गया। संघ तत्त्वप्रचार की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य करेगा। प्रत्येक रविवार को संघ द्वारा सामूहिक पूजन का कार्यक्रम आयोजित किया जाता है। संघ शीघ्र ही स्थानीय शिक्षण-शिविर का आयोजन कर रहा है।

अ०भा० जैन युवा फैडरेशन द्वारा वीतराग-विज्ञान पाठशालाओं की स्थापना

अ० भा० जैन युवा फैडरेशन की नवीन शाखायें क्रमशः ललितपुर (उत्तरप्रदेश), चंदेरी (म०प्र०), नकुड़ (उ०प्र०), लवाण (राज०) तथा बैड़िया (म०प्र०) में खोली गयी हैं। नकुड़ में श्री विजेन्द्रकुमार 'संत' तथा बैड़िया में श्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रिंस' के संयोजकत्व में शीघ्र ही वीतराग-विज्ञान पाठशालाओं की स्थापना की जा रही है। फैडरेशन समाज में व्याप्त कुप्रथाओं को दूर करने, युवकों में जागृति उत्पन्न करने तथा विभिन्न माध्यमों से तत्त्वप्रचार करने के लिये कटिबद्ध है।

— अध्यक्ष

श्री पंडित गोविंदप्रसादजी द्वारा तत्त्वप्रचार

समाज के आमंत्रण पर श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र, नैनागिरिजी के मेले के अवसर पर श्री पंडित गोविंदप्रसादजी खडेरीवालों के पधारने से महती धर्मप्रभावना हुई। इस क्षेत्र में चलनेवाली वीतराग-विज्ञान पाठशालाओं के बालक-बालिकाओं द्वारा बालबोध पाठमालाओं तथा वीतराग-विज्ञान पाठमालाओं के आधार पर संवाद, कविता आदि प्रस्तुत किये गये, जिन्हें उपस्थित जनसमुदाय ने खूब पसंद किया और पंडितजी को अपने-अपने गाँवों में पधारने का आग्रह किया। पंडितजी ने भी 'पाठशाला खुलायेंगे' की शर्त पर उनका आमंत्रण स्वीकार किया।

— दयाचंद जैन, सोंरई

वीतराग-विज्ञान पाठशालाओं की निरीक्षण रिपोर्ट

श्री पंडित गोविंदप्रसादजी जैन, निरीक्षक महोदय ने मालथोंन, बरा, बड़ागाँव, दरगुवां, लार, डिकौली, ककरवाहा, नैकोरा, गुढ़ा, कुम्हेडी तथा सागर स्थित सभी पाठशालाओं का निरीक्षण किया। इनमें अधिकांश पाठशालायें व्यवस्थित ढंग से चलती पायी गयीं। बालकों की पाठ्य-विषय की तैयारी संतोषजनक चल रही है। कहीं-कहीं शिथिलता भी पायी गयी; वहाँ यथोचित मार्गदर्शन देकर अध्यापकों, बालकों व समाज को उत्साहित किया।

— मंत्री, भारतवर्षीय वी० वि० पाठशाला समिति

दरगुवां (म०प्र०) - पंडित गोविंदप्रसादजी के पधारने से स्थानीय वीतराग-विज्ञान पाठशाला जो कुछ समय से बंद थी, पुनः प्रारंभ की गयी। पाठशाला में अध्यापन के लिये श्री ऋषभकुमारजी को नियुक्त किया गया। इस अवसर पर पंडित गोविंदप्रसादजी के प्रवचनों से समाज ने लाभ लिया। **— व्यवस्थापक**

गुढ़ा (ललितपुर, उ०प्र०) - श्री पंडित गोविंदप्रसादजी जैन, निरीक्षक भा० वी० वि० पाठशाला समिति निरीक्षणार्थ यहाँ पधारे। समाज के आग्रह पर पाँच दिन रुके। पंडितजी साहब के सरल, सुबोध प्रवचनों का समाज ने लाभ लिया। पाठशाला का निरीक्षण कर पंडितजी ने हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त की। **— जैन समाज, गुढ़ा**

हिम्मतनगर (गुजरात) - दिनांक ५-१-७८ से १२-१-७८ तक पंडित ज्ञानचंदजी विदिशावालों के प्रवचनों की अमृतवर्षा हुई। प्रतिदिन दोनों समय मोक्षमार्गप्रकाशक तथा छहढाला पर हुए आपके प्रवचनों से स्थानीय समाज अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों को समझ सकी। आपने तथा श्री बाबूभाई नाथाभाई मेहता सहित चार निरीक्षकों ने वीतराग-विज्ञान पाठशाला का निरीक्षण किया। पाठशाला के छात्रों द्वारा 'बालसभा' का आयोजन भी किया गया। पाठशाला की व्यवस्था हेतु एक समिति का गठन किया गया। **— कोटडिया ताराचंद पोपटलाल**

रखियाल (गुजरात) - दिनांक १३-१-७८ से १५-१-७८ तक वाणीभूषण पंडित ज्ञानचंदजी विदिशावाले पधारे। आपके प्रतिदिन दोनों समय मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ पर अत्यंत मार्मिक प्रवचन हुए। स्थानी समाज तथा आस-पास के गाँव के लोगों ने बड़े उत्साह से भाग लेकर तत्त्वलाभ लिया। आपने यहाँ बच्चों की भी एक कक्षा ली, जिसमें बालकों ने बड़े उत्साह से भाग लिया। **— गाँधी भोगीलाल केशवलाल**

खड़ैरी (म०प्र०) – दिनांक २७–१२–७७ से ३–१–७८ तक ब्रह्मचारी बाबूलालजी बरायठावालों के पधारने से समाज में अत्यंत धर्म प्रभावना हुई। आपके द्वारा निश्चय–व्यवहार पर यथार्थ विवेचन हुआ जिससे समाज में प्रचलित भ्रांतियाँ दूर हुईं। इस अवसर पर ब्रह्मचारी नित्यानंदजी का भी सत्समागम हुआ। **— ताराचंद जैन**

बड़ा मलहरा (म०प्र०) – ब्रह्मचारी नित्यानंदजी की अध्यक्षता में दिनांक १–१–७८ को श्री गणेशवर्णी दि० जैन वीतराग–विज्ञान पाठशाला का शुभारंभ किया गया। इस पाठशाला में पंडित वीरचंदजी जैन अध्यापन कार्य कर रहे हैं। **—शिखरचंद जैन**

जयपुर – दिनांक २६ जनवरी तथा २८ जनवरी १९७८ को क्रमशः स्थानीय बड़े मंदिरजी तेरापंथियान में तथा आदर्शनगर मुलतान दि० जैन मंदिर में श्री ब्रह्मचारी लाभानंदजी द्वारा भक्तामर मंडल विधान संपन्न होने से महती धर्मप्रभावना हुई। **— कपूरचंद जैन**

भोपाल (म०प्र०) – स्थानीय चौक में स्थित वीतराग–विज्ञान पाठशाला का प्रथम स्नेह–सम्मेलन दिनांक ८–१–७८ को झरनों के मंदिर पर आयोजित किया गया। सम्मेलन में विभिन्न सांस्कृतिक कार्यक्रम एवं क्रीड़ा प्रतियोगिताएँ आयोजित की गयीं। **— वीरेन्द्रकुमार**

उज्जैन – स्थानीय वीतराग–विज्ञान पाठशाला के तत्त्वावधान में 'चांदखेड़ी' के लिये तीर्थयात्रा संघ निकाला गया। स्थानीय तथा निकटवर्ती क्षेत्र के साधर्मी भाई–बहनों ने इस यात्रासंघ में बड़े उत्साह से भाग लिया। रास्ते में आनेवाले पिड़ावा आदि नगरों में अनेक ज्ञानवर्धक सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किये गये। स्थान–स्थान पर पंडित विमलचंदजी झांझरी के मार्मिक प्रवचनों का भी आयोजन किया गया। **— प्रदीप झांझरी, संयोजक**

बैंगलौर – मद्रास पंचकल्याणक के उपरांत दिनांक १२–३–७८ से एक सप्ताह के लिये पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी यहाँ पधार रहे हैं। पूज्य गुरुदेवश्री के सत्समागम से अवश्य लाभ लें। **— मनहरलाल पोपटलाल शेठ**

आवश्यक सूचना :– मद्रास में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव एवं बैंगलौर, हैदराबाद आदि स्थानों पर अन्य कार्यक्रम होने से श्री बाबूभाई मेहता तथा डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल दक्षिण भारत की यात्रा पर रहेंगे। इस कारण श्री सम्मेदशिखरजी में इस वर्ष फाल्गुन अष्टाह्निका का शिक्षण–शिविर नहीं लग सकेगा। **— अखिल बंसल**

पाठकों के पत्र

सरदारशहर (राजस्थान) से श्री डॉ० सुरेशचंदजी सेठ लिखते हैं –

आत्मधर्म पत्रिका में जो विचार व्यक्त किये जाते हैं, वे साधकों के लिये जीवनोपयोगी हैं।

अरनेड़ (राजस्थान) से श्री गोपीलालजी लोढ़ा लिखते हैं –

संपूर्ण जैनदर्शन की झाँकी इस पत्र में सुव्यवस्थित ढंग से लिखी गयी है। इसके अध्ययन के समय यही तेजोन्मय भावना बनती है कि आगे कैसे सुंदर अभिलेखों की झाँकी है, मैं क्रमशः उनको पढ़ता ही चलूँ।

इंदौर (म०प्र०) से श्री डॉ० नेमीचंदजी जैन, संपादक 'तीर्थंकर', लिखते हैं –

आत्मधर्म को हर बार बड़े गौर से देख जाता हूँ। उसे आपने एक नये युग और परिवेश में डालने का काम किया है। साधुवाद।

वाराणसी (उ०प्र०) से श्री जमनालालजी जैन, संपादक 'श्रमण', लिखते हैं –

आपने आत्मधर्म का कायापलट कर दिया। इससे उसमें एक मोहक निखार आ गया है।

शिवपुरी (म०प्र०) से श्री प्रेमचंदजी जैन लिखते हैं –

आत्मधर्म में 'उत्तम संयम : एक विश्लेषण' बड़ी गंभीरता से समझाया है। संयम की सच्चाई को पाठकों के गले उतारने का इस लेख में बहुत ही सफल प्रयास किया है। आत्मधर्म के माध्यम से आत्मरसिकों का आप बड़ा उपकार कर रहे हैं। इसमें कई प्रसंग ऐसे होते हैं कि मैं अपने आप में खो जाता हूँ।

रावतभाटा (राज०) से श्री राजकुमारजी जैन लिखते हैं –

आत्मधर्म ने जीवन के आध्यात्मिक क्षेत्र में अभूतपूर्व परिवर्तन ला दिया है। नवंबर–दिसंबर अंक के 'उत्तम संयम : एक विश्लेषण' का अध्ययन किया, इसमें जितेन्द्रिय बनने का जो मार्ग प्रदर्शित किया है, वह अविस्मरणीय है। 'शास्त्राभ्यास की महिमा' पढ़कर प्रतिदिन शास्त्र स्वाध्याय करने की तीव्र रुचि जागृत हो गयी है।

अमरावती (महाराष्ट्र) से श्री उदयचंदजी जैन लिखते हैं –

जनवरी ७८ के अंक में पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी से आपने 'इंटरव्यू' लेकर समाज में व्याप्त भ्रांतियों को दूर किया है।

नागपुर (महाराष्ट्र) से श्री हुकुमचंद म० गहाणकरीजी लिखते हैं –

आत्मधर्म बहुत ही आकर्षक, पठनीय एवं कलात्मक ढंग से निकल रहा है। पूज्य स्वामीजी से लिये गये इंटरव्यू छापने से समाज में प्रसारित बहुत सी भ्रांतियाँ दूर हो सकती हैं। सम्पादकीय तो बहुत ही सुंदर, मर्मस्पर्शी, वर्णनात्मक एवं उत्कृष्ट रहता है।

प्रबंध संपादक की कलम से

कृपया निम्नलिखित सूचनाओं पर अवश्य ध्यान दें—

(१) जिन ग्राहकों का शुल्क हमें ३० जनवरी तक प्राप्त हुआ था, उन सभी को आत्मधर्म के अंक भेज दिये गये हैं।

(२) शुल्क प्राप्त होते ही नवीन अंक भेजा जाता है तथा पुराने अंक क्रमशः भेजे जाते हैं। अतः नवीन ग्राहक कृपया धैर्य रखा करें।

(३) आपके पत्रों पर शीघ्र कार्यवाही हो इसके लिये आप अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखें। बिना ग्राहक नंबर के पत्रों पर कार्यवाही करना संभव नहीं हो पाता।

❀*❁* ❀*❁* ❀*❁*

पच्चीस वर्ष पहले

[इस स्तंभ में आज से पच्चीस वर्ष पहले आत्मधर्म (हिंदी) मे प्रकाशित महत्त्वपूर्ण अंशों को प्रकाशित किया जाता है।]

गणधरदेव जिन्हें नमस्कार करते हैं

गणधरदेव भी जब नमस्कार मंत्र बोलकर पंचपरमेष्ठी को भाव से नमस्कार करते हैं, तब वीतरागी आनंद में झूलनेवाले समस्त मुनि उसमें आ जाते हैं। अहो! गणधरदेव जिन्हें नमस्कार करते हैं, उन संतों की दशा कैसी! उस मुनिपद की महिमा कितनी!! मुनि भी परमेष्ठी हैं; जो परम चैतन्यपद में स्थिर हुए हैं, वे परमेष्ठी हैं।

ऐसे संत-मुनि अत्यंत भवभीरु हैं, और रागरहित नैष्कर्म्य परिणतिवाले हैं, बाह्य के किसी कार्य का भार सिर पर नहीं रखते; अंतर के आनंद के अनुभव में ही उनकी परिणति लीन है। ऐसे संत शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति-आराधना करते हैं। अंतर में शुद्ध रत्नत्रय की आराधना हो और बाह्य में निष्परिग्रही वीतरागी मुद्रा हो – ऐसी मुनि की दशा है।

अहो! संत मुनि आत्मा के अतीन्द्रिय आनंदकुंड में निमग्न हैं, एकदम वीतरागता बढ़ गई है और राग बिल्कुल कम रह गया है; वहाँ बाह्य में वस्त्रादि भी स्वयं छूट गये हैं और शरीर की सहज दिगम्बर निर्विकार दशा हो गयी है।

मुनि हों या श्रावक हों, परंतु उन्होंने स्वभाव के आश्रय से जितनी रत्नत्रय की आराधना की उतनी ही वीतरागी भक्ति है और वही मुक्ति का कारण है।

अहो! चिदात्मा के भक्त उन श्रमणों और श्रावकों की जय हो। उन्हें भक्तिपूर्वक वंदन हो।

[आत्मधर्म, वर्ष ८, अंक १४, माघ वि० नि० सं० २४७९, पृष्ठ २४५-७६]

Registration. No. RJ-2712

हमारे यहाँ प्राप्त प्रकाशन*

मोक्षशास्त्र	१२-००
समयसार	१२-००
समयसार पद्यानुवाद	०-७०
समयसार कलश टीका	६-००
प्रवचनसार	१२-००
पंचास्तिकाय	७-५०
नियमसार	५-५०
नियमसार पद्यानुवाद	०-४०
अष्टपाहुड़	१०-००
समयसार नाटक	७-५०
समयसार प्रवचन भाग १	६-००
समयसार प्रवचन भाग २	प्रेस में
समयसार प्रवचन भाग ३	५-००
समयसार प्रवचन भाग ४	७-००
आत्मावलोकन	३-००
श्रावकधर्म प्रकाश	३-५०
द्रव्यसंग्रह	१-५०
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-४०
प्रवचन परमागम	२-५०
धर्म की क्रिया	२-००
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग १	१-५०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग २	१-५०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग ३	१-५०
तत्त्वज्ञान तरंगिणी	५-००
अलिंग-ग्रहण प्रवचन	१-६०
वीतराग-विज्ञान भाग ३ (छहढाला पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन)	१-००
बालपोथी भाग १	०-६०
बालपोथी भाग २	प्रेस में
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	४-००
बालबोध पाठमाला भाग १	०-५०
बालबोध पाठमाला भाग २	०-७०
बालबोध पाठमाला भाग ३	०-७०
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग १	०-७०
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग २	१-००
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग ३	१-००
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १	१-२५
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २	१-२५
जयपुर (खानियाँ) तत्त्वचर्चा भाग १ व २	३०-००

मोक्षमार्गप्रकाशक		प्रेस में
पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व		१०-००
तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ		५-००
" " (पॉकेट बुक साइज में हिन्दी में)		२-००
मैं कौन हूँ?		१-००
तीर्थंकर भगवान महावीर		०-४०
वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर		०-२५
अपने को पहचानिए		०-५०
अर्चना (पूजा संग्रह)		०-४०
मैं ज्ञानानंद स्वभावी हूँ (कैलेंडर)		०-५०
पंडित टोडरमल : जीवन और साहित्य		०-६५
कविवर बनारसीदास : जीवन और साहित्य		०-३०
सत्तास्वरूप		१-७०
सुंदरलेख बालबोध पाठमाला भाग १		प्रेस में
अनेकांत और स्याद्वाद		०-३५
युगपुरुष श्री कानजीस्वामी		१-००
वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका		३-००
सत्य की खोज (भाग १)		२-००
आचार्य अमृतचंद्र और उनका पुरुषार्थसिद्धयुपाय	साधारण :	२-००
	सजिल्द :	३-००

Licence No.
P. P. 16-S.S.P. Jaipur City Dn.
Licensed to Post
Without Pre-Payment

If undelivered please return to :
प्रबन्ध-संपादक, आत्मधर्म
ए-४, टोडरमल स्मारक भवन, बापूनगर
जयपुर ३०२००४